कला और संस्कृति
तथा अन्य निबंध

विश्वनाथ शुक्ल
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़

श्रीवत्स प्रकाशन, अलीगढ़

सहयात्रिणी

श्रीमती प्रेमलक्षणा को,

जो,

सुख-दुःख में समत्व की

प्रेरणा देती रही है ।

अनुक्रम

तथापि,

किसी गम्भीर-विषय पर कुछ लिखने से पूर्व अब प्राय: अपने अज्ञान का भान होने लगता है, जो लिखने से विरत करता रहता है। ज्ञान का अनादि-अनन्त स्वरूप अप्रमेय है। उसके क्षेत्र की निस्सीम विविधता जिज्ञासु मन को सदा अचरज में डाले, आकुल किये रहती है। अपने प्रथम उष:काल से अब तक मनुष्य ने ज्ञान (और विज्ञान) के स्वायत्तीकरण के लिए क्या कुछ नहीं किया है, किन्तु क्या उसका प्रत्येक प्रयास ज्ञान-विज्ञान के एक और नये क्षितिज के उद्घाटन में नहीं चुक गया है ? जो नहीं चुका है, वह है उसका प्रयासजन्य आनन्द। सम्भवतः इसीलिए उसके ज्ञान-प्रयासों की निरन्तरता अप्रतिहत बनी हुई है और उससे विश्व के मनीषियो की चिन्मयी-उपलब्धि हमारा भी पाथेय बन जाती है। ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि की अपराजिता वाक् सहसा मन में गूँज उठती है—

प्र तार्यायु: प्रतरं नवीय: (१०-५९-१)

'हम ऊँचे से ऊँचे और नये से नये जीवन की ओर अग्रसर होते रहे'। अपने अज्ञान की सीमा में आबद्ध रहते हुए भी हम ऋतम्भरा प्रज्ञावान् ऋषियो की ऐसी अवितथ वाणी से प्रोत्साहित होते रहते हैं।

थोड़ी-सी ज्ञान-चर्चा के मिषस्वरूप इन प्रकीर्ण निबन्धों को भी तदर्थकर्मवत् देखना न्याय्य होगा। साहित्यिक विधाओं में चिन्तन-प्रवण प्रकृति और मीमांसात्मक प्रवृत्ति के कारण निबंध का अपना महत्त्व स्वयं-सिद्ध है। प्रस्तुत निबन्धों मे विभूति-विशेष, दर्शन, भाषा, साहित्य, संगीत, संस्कृति, कला आदि पर कुछ विचार-चेष्टा मिलेगी दो लेख अपने देशकाल की समस्याओं से सम्बद्ध भी आगये है। इन

निबंधों की आपात-विशृंखलता के लिए अकेला मै अपराधी नही हूँ, वे आग्रही मित्र भी हैं, जिनकी प्रेरणा से एक ओर मुझ जैसे प्रकृत्या लेखनभीरु और दूसरी ओर षटरागी मनुष्य को ये निबध लिखने पड़े है। संतोष है तो बस इतना ही कि तद्भावभावित एक अध्यापक द्वारा अपने देश और समाज की यह एक स्वल्प मानसी-सेवा अथवा लोकसंग्रह-यात्रा है।

मकरसंक्रान्ति, २०४२ वि.
१४ जनवरी १९८६
'श्रीवत्स'
भारतीनगर, मेरिस रोड,
अलीगढ़ (उ० प्र०)

विश्वनाथ शुक्ल

युगपुरुष श्रीकृष्ण

जिन व्यक्तित्वों ने अपनी असाधारणता और तेजस्विता से पिछले कम से कम ढाई तीन हजार वर्षों मे विश्व मानव के मन-मस्तिष्क को प्रभावित किया है, उनमे कृष्ण का व्यक्तित्व अन्यतम है। अपने आयाम के विस्तार, विविधता और विचित्रता मे तो शायद कृष्ण का व्यक्तित्व अद्वितीय ही है। ऊपर से परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले तत्त्वों और अद्‌भुत विवादास्पद स्थितियो का पात्र भी कृष्ण के अतिरिक्त विश्व का शायद ही कोई प्रसिद्ध व्यक्तित्व हो। भारत के लिए कृष्ण मात्र इतिहास-पुरुष का व्यक्तित्व नही है। वह लीला पुरुषोत्तम है, जो आज भी हमारे बीच लीलारत है। कृष्ण के बिना अखण्डता और परिपूर्णता मे भारतवर्ष के स्वरूप की कल्पना सम्भव नही है। भारत के विराट् लोकजीवन से लेकर गम्भीरतम दार्शनिक चिन्तन, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, कला, राजनीति, अर्थनीति आदि के व्यापक क्षेत्र मे हम कृष्ण को उपस्थित पाते है। जहाँ भारतीय बौद्धिक चिन्तन मे कृष्ण निर्गुण-निराकार परात्पर ब्रह्म का पर्याय है, वही उसके भावुक हृदय मे कभी वह प्रेम के हाथो बिका किसी राधा का एक चिरअतृप्त प्रणयी है, कभी किसी ममतामयी यशोदा का अबोध शिशु है और कभी गोचारण करते हुए गोप-किशोरो का सरल हृदय सखा है। किन्तु वास्तव मे सर्वत्र तत्त्वतः वही एक कृष्ण है। विश्व के प्रसिद्धतम और प्रमुखतम दर्शन ग्रन्थों मे से एक गीता नामक अपने तत्त्व चिन्तन में अपना वास्तविक परिचय कृष्ण इस प्रकार देते हैं :

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

गीता, ४. ६, ७, ८.

"मैं अजन्मा और अविनाशी, सारे प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपने प्रकृति को अधीन करके अपनी लीला से प्रकट होता हूँ। जब-जब इस जगत् मे नैतिक मूल्यो का ह्रास होता है, तब-तब उनकी पुनः स्थापना करने, दुष्कर्मियो का विनाश और सदाचारियों की रक्षा के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ"। कृष्ण के इस तात्विक स्वरूप की समझ प्रत्येक भारतीय के मानस-पटल पर अंकित है। यदि एक ओर १६ वी शताब्दी के अद्वैत वेदान्त के आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते है :

> वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्,
> पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
> पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
> कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने ।

अर्थात् "हाथ मे वशी लिए, नवीन मेघ जैसी कान्ति वाले, पीताम्बर-धारी, बिम्बा फल जैसी लालिमा लिए ओठों वाले, पूर्ण चन्द्रमा जैसे मुख और कमलदल जैसे सुन्दर नेत्र वाले कृष्ण के सिवा मैं और किसी तत्त्व को नही जानता।" तो दूसरी ओर १८ वीं शताब्दी के नज़ीर अकबराबादी कहते है—

> जाहिर में सुत वो नन्द जसोदा के आप थे,
> वरना वो आपी माई थे और आपी बाप थे।
> परदे में बालपन के ये उनके मिलाप थे,
> जोती सरूप कहिए जिन्हें सो वो आप थे। × × ×
> उनको तो बालपन से न था काम कुछ जरा।
> संसार की जो रीत थी, उसको रखा बजा।
> मालिक थे वो तो आपी, उन्हें बालपन से क्या ?
> वाँ बालपन, जवानी, बुढ़ापा सब एक था। × × ×
> बाले थे बिर्जराज जो दुनियाँ में आ गये,
> लीला के लाख रंग तमाशे दिखा गये।"

भारतीय साहित्य मे कृष्ण ने कितना स्थान पाया है, कृष्ण पर कितना विशाल साहित्य रचा गया है, विश्व की प्राचीनतम भाषाओ मे से एक अकेली संस्कृत भाषा के साहित्य में कृष्ण की व्याप्ति देख कर विश्व के मनीषी स्तम्भित रह जाते हैं। आकार-प्रकार में विश्व का सबसे बड़ा संस्कृत ग्रंथ महाभारत कृष्ण के चरित का थोड़ा सा ही परिचय दे सका है। इसी महाभारत

के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता है, जिसके द्वारा कृष्ण पूरी विश्व चेतना का प्रतिनिधित्व करते हुए एक ऐसा तत्त्व चिन्तन देते है, एक ऐसी आचार-संहिता का अनुमोदन और प्रचार करते है, जिसमे सार्वदेशिक और सार्वकालिक उपयोगिता के गुण है। 'ससार मे कोई किसी से ऊँचानीचा नहीं। सब मूलतः एक हैं। स्वार्थपरता, इन्द्रिय तर्पण और भोगवाद, दंभ, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा और अभिमान का सभ्य और सुसंस्कृत मानव-समाज में कोई स्थान नही है। शुद्ध मन से कर्तव्य कर्म और सेवा ही अपने आप में महान् लाभ और मानव जीवन की चरम उपलब्धि हैं'। कर्म से मुख न मोडकर फल की इच्छा न रखते हुए निरन्तर प्रसन्नचित्त पूर्वक लोक मे प्रवृत्त होना ही कृष्ण की युग-निर्माणकारी चेतना है। वे कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि। गीता, ३. २२.

अर्थात् 'हे अर्जुन मुझे तीनो लोकों में न तो कुछ अप्राप्त है, न मुझे कुछ प्राप्त करना है, और न मुझे कुछ कर्तव्य है, फिर भी मैं संग-त्याग पूर्वक आत्म शुद्धि के लिए शरीर मन और बुद्धि से कर्म करने का पक्षपाती हूँ, और कर्म करता हूँ'। अज्ञान से ढँकी तामसी बुद्धि वाले प्राणी अधर्म को ही धर्म मानकर करने लगते हैं और सारे कामो को ही उलट-पुलट कर देते है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
गीता १८.३२.

'मनुष्य को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि इस ससार में कोई दूसरा उसका शत्रु नही है। 'वह स्वयं ही अपना शत्रु है और स्वयं ही अपना मित्र है। इसलिए यही बुद्धिमत्ता है कि मनुष्य स्वयं का विनाश न करे अपितु सोच समझकर अपने उद्धार का प्रयत्न करे। कृष्ण ने केवल अमूर्त और वायवी चिन्तन नही दिया है, बल्कि संसार में मनुष्य के सफल और सार्थक जीवन के व्यवहार की छोटी से छोटी बात पर भी क्रियात्मक सुझाव दिये हैं। मनुष्य को क्या, कितना और कैसे खाना-पीना चाहिए, कितना सोना, विश्राम और कार्य करना चाहिए कैसे करना चाहिए आदि बातों पर भी बड़े मनोवैज्ञानिक ढग से विचार किया है। कृष्ण कहते है कि यह मनुष्य जीवन एक योग-साधना है। इसे ठीक-ठीक सम्पन्न करने से सब दुःख दूर हो जाते है और वह आनन्द

प्राप्त होता है, जो प्राणिमात्र का लक्ष्य है। उन्होंने कहा है, 'युक्ताहार-विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा। यह मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ है। यह एक यज्ञ है। इसे सारे मनुष्य समाज को परस्पर सहयोग से मिलकर पूरा करना चाहिए। यह मनुष्य जीवन परस्पर स्वार्थपूर्ण कलह करने, रोने कलपने, शिकायत करने और अन्ततः पछताते हुए मरने के लिए नही मिला है, अपितु यह सहयोग, उपकार, सेवा और सच्चे आनन्द के लिए मिला है। यही यज्ञ की परिभाषा है। इसके अतिरिक्त जितनी संकुचित दृष्टियाँ हैं वे सब दुःख देने और बन्धन मे डालने वाली है—यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः॥ अतः सहयोग करो; प्रेम और सहानुभूति से बरताव करो— परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। इससे सभी को बहुल सुखशान्ति मिलेगी। विश्व मे जो कुछ सम्पत्ति और सुखसामग्री है, वह ईश्वर ने सबके लिए समान रूप से उपलब्ध करने के लिए निर्मित की है। आपाधापी और अन्याय-अनैतिकता से उसे अकेले-अकेले हड़पते रहना पाप है, चोरी है।

कृष्ण अपने इन्ही लोक विचारो के कारण लोक-देवता हो गये। हमारे देश मे इन्द्र की राजसी पूजा का बहिष्कार करके कृष्ण ने इस धरती और इस धरती की सम्पत्ति को महत्त्व दिया। कृषि प्रधान देश भारत की वन्य सम्पदा और पशुधन-गाय-बछड़ों को महत्त्व दिया। गोपालन सिखाया। उनका निश्चित मत महाभारत मे व्यक्त होता है—"न नः स समिति गच्छेत् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्" अर्थात् "उस व्यक्ति को हमारी राष्ट्रीय समिति में जाने का कोई अधिकार नही जो स्वयं कृषि कार्य नही करता" उन्हें राजसी ठाठ और तमोगुणी राजा लोग कभी प्रभावित नही कर सके। महाभारत में एक बड़ा मार्मिक प्रसंग है। राजा दुर्योधन उनके न्याय्य वचनो को तो मानता नही, उनसे प्रेम भी नही रखता, किन्तु उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित करने लगता है तब कृष्ण का जो दो टूक उत्तर उसे मिला उससे उसका मानमर्दन हो गया। यह उत्तर मार्मिक मानवीय सवेदना मे अपना सानी नहीं रखता। कृष्ण ने कहा था—'सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि ह्यापद् भोज्यानि वा पुनः। न च सम्प्रीयसे राजन्, न चैवापद्गता वयम्'। अर्थात् 'राजन्, किसी व्यक्ति के यहाँ भोजन करने की दो ही परिस्थितियाँ हो सकती है। या तो किसी व्यक्ति से किसी का घनिष्ठ प्रेम हो तब भोजन किया जा सकता है, या कोई व्यक्ति आपत्तिग्रस्त हो, भूखा मर रहा हो, तब वह किसी के यहाँ अन्न ग्रहण कर सकता है। किन्तु मेरे साथ

दोनो में से कोई भी परिस्थिति नही है। न तो आप हम मे प्रेम ही करते है, और न हम आपत्तिग्रस्त हैं। अतः आपके यहाँ भोजन का प्रश्न ही नही उठता।" और इसके विपरीत हम कृष्ण की विशुद्ध मानवीय प्रेम को सर्वाधिक महत्व देने की प्रवृत्ति के सैकड़ों-हजारो उदाहरण पाते हैं। वे प्रेम विह्वला विदुर पत्नी द्वारा भावावेश में दिये केले के छिलकों से परम तुष्टि प्राप्त करते है। द्रौपदी के दिये साग-पात से अघा जाते हैं, और निर्धन सुदामा के मुट्ठी भर चिडवे से अपूर्व स्वाद प्राप्त करते हैं। उसके बदले मित्र पर बिना कोई अहसान थोपे उसका जनम-जनम का दलिद्दर दूर कर देते है। इसी घटना की मार्मिकता का भान करते हुए महान् भक्त-दार्शनिक वेदान्तदेशिक अपने समकालीन नरेशों द्वारा दी गई सम्पत्ति और सम्मान को एकबारगी ही ठुकराकर कह उठते है—

देवं सेवितुमेव निश्चिनुमहे, योऽसौ दयालुः पुरा,
धानामुष्टिमुचे कुचेलमुनये दत्तेस्म वित्तेशताम्।

अर्थात् "हमें क्षुद्र और अभिमानी राजाओ की चाटुकारिता से क्या करना है! हम तो उसी कृष्ण को मानते है जिसने एक मुट्ठी धान के बदले निर्धन सुदामा को मालामाल कर दिया था।" समता और मैत्री का जो आदर्श और मानदण्ड कृष्ण ने सुदामा के साथ मित्रता निभाकर और राजा के रूप मे भी वीतराग सन्यासी गृहस्थ बनकर स्थापित किया, वह समूचे मानव-इतिहास मे अनूठा है। भारतीय साहित्य को कृष्ण-चरित की इस एक घटना ने ही कितनी प्रेरणा दी है, यह बताने की आवश्यकता नही। ब्रजभाषा के अमर काव्य सुदामा-चरित के सहृदय कवि नरोत्तमदास ने कृष्ण के हृदय की आर्द्रता को साकार कर दिया है—

"देखि सुदामा की दीनदसा करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात कौ हाथ छुयौ नहिं नैनन के जल सौ पग धोये।

श्रीकृष्ण-चरित के आकर ग्रन्थ श्रीमद्भागवत महापुराण ने उनके दार्शनिक और लोक-रजक युगपुरुष रूप को बड़ी ही मा[illegible]कता से बडी उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। भागवत के कृष्ण ने इस देश की सभी भाषाओं के साहित्य को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है। भारतवर्ष की सभी ललित कलाओ—काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य मे कृष्ण ओतप्रोत है। सभी भारतीय भाषाओ का काव्य कृष्ण को अनेक रूपों मे चित्रित करके अपनी पूर्णता पर पहुँच गया है। संगीत के तीनों अगों गायन, वादन

और नृत्य के केन्द्रीय प्रतिपाद्य शताब्दियों तक कृष्ण रहे हैं। आज भी भारतीय संगीत का जो सार्वभौम लालित्य है, उसके प्रेरणास्रोत कृष्ण ही हैं। कृष्ण के 'सर्वभूतमनोहर वेणुनाद की गूँज कभी तिरोहित नहीं हुई।

कराल विषधर कालिय नाग के फनों पर अव्यग्र भाव से कृष्ण के आनन्द नृत्य की थिरकन अब भी ब्रज भूमि में अविराम चल रही है। नटवर कृष्ण की सर्वमानहारिणी कामजयिष्णु रासक्रीडा अब भी जारी है। शुद्ध आत्म चैतन्य में स्थित व्यक्ति को किसी विधि निषेध की आवश्यकता नहीं होती। वह एक उच्चतर भाव-भूमि पर आरूढ होता है। आनन्द और प्रेम की यही उच्चभूमि राधाभाव है, जिसके आस्वादक कृष्ण अथवा 'लीलापुरुषोत्तम' हैं। युग-पुरुष कृष्ण का यह विशेष व्यक्तित्व एकदम अनूठा और अनुपम है।

चित्रकला के वर्ण्य और शिल्प को कृष्ण ने अपूर्व आयाम प्रदान किये है। इस देश के सभी प्रदेशों की चित्र शैलियों में कृष्ण विद्यमान है। मूर्ति-कला के इतिहास में कृष्ण और उनके मूलरूप विष्णु की जो महिमा है वह विश्व विदित है। वास्तु शिल्प को विराट्-गरिमा और अभूतपूर्व गौरव प्रदान करने वाले कृष्ण के व्यक्तित्व ने विश्व को ऐसे सुषमित प्रासाद और मंदिर प्रदान किये है जो हमारी सौन्दर्य-चेतना और आनन्द-बोध को चरम तृप्ति प्रदान करते हैं। कृष्ण सब दृष्टियों से अद्भुत और असाधारण हैं। वे भारत के प्राण हैं। उनकी स्मृति हमें एक अपूर्व आत्म-विश्वास से भर देती है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

गीता १८. ७८.

'शुद्धाद्वैत' शब्द की व्याख्या

भारतीय अध्यात्म तत्त्व के आदिस्रोत वेद हैं। वेद के तत्त्वज्ञान का उप-बृंहण ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवतादि आर्ष ग्रंथों में हुआ है। अल्पाक्षरों में अनल्प तत्त्वराशि का समावेश करने वाले महर्षि बादरायण व्यास के ब्रह्मसूत्रों का समस्त भारतीय वाङ्मय में अद्वितीय स्थान है। प्रायः सभी तत्त्वचिन्तकों का ध्यान ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या की ओर गया है। सबने अपने-अपने गहन मनन-चिन्तन और असीम वैदुष्य से ब्रह्मसूत्रों का तात्पर्य उन पर लिखे विशद भाष्यों में व्यक्त किया है। जैसा जिसने समझा उसने ब्रह्मसूत्रों के प्रतिपाद्य अद्वैत को वैसा नाम दे दिया। अर्थात् अद्वैत शब्द के पूर्व 'केवल', 'विशिष्ट', 'द्वैत' आदि शब्द जोड़ दिये। महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी ने भी अद्वैत शब्द के पूर्व 'शुद्ध' शब्द की योजना की है। प्रमुख वैष्णव आचार्यों में श्री वल्लभाचार्य जी अन्तिम आचार्य हैं, अतः उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी अद्वैत दर्शनाचार्यों एवं वैष्णव आचार्यों के मतों का सम्यक् अध्ययन-मनन किया था। अपने अध्ययन एवं मौलिक चिन्तन के फल-स्वरूप उन्होंने अद्वैत शब्द के पूर्व 'शुद्ध' शब्द का जो संयोजन किया, उसी के औचित्य एवं समीचीनता की ओर इन पंक्तियों में किंचित् विचार किया जा रहा है।

अद्वैत शब्द के पूर्व 'शुद्ध' शब्द के औचित्य और प्रयोजन को समझने से पूर्व हमें 'अद्वैत' का यथार्थ तात्पर्य समझना अनिवार्य है, तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। शुद्धाद्वैत दर्शन के एक महान् आचार्य श्री गिरिधर जी ने अपने वैदुष्य- पूर्ण ग्रंथ 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' में अद्वैत की बड़ी ही स्पष्ट और निर्भ्रान्त परिभाषा दी है, जो इस प्रकार है —

> द्विधा ज्ञानं तु यद्यत्स्यान्नामरूपात्मना मुहुः।
> ईशजीवात्मनावापि कार्यकारणतोऽथवा।
> द्वीतं तदेव द्वैतं स्याददैतं तु ततोऽन्यथा॥

अर्थात् 'हमें अपने जीवनकाल में नाम-रूप, ईश्वर-जीवात्मा, कार्य-कारण आदि भेदों के द्वारा बारम्बार जो दो प्रकार का ज्ञान होता है, उसे 'द्वीत'

कहते है। वही 'द्वैत' भी कहलाता है। किन्तु इसके ठीक विपरीत जो ज्ञान है, वह 'अद्वैत' है। इसे और स्पष्ट शब्दों में यों कह सकते हैं कि द्वैत के द्वारा एक ही वस्तु दो रूपो मे दीखती है। 'अद्वैत' के द्वारा उसका यथार्थ एकत्व दृष्टि-गोचर होता है। अर्थात् एक मात्र ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नही है। जो कुछ है, वह भी ब्रह्म का ही रूप है। माया की कोई पृथक सत्ता नहीं है।

शांकर मतानुयायी दार्शनिक मायावाद का आश्रय लेकर अद्वैत की सिद्धि करते है। अर्थात् पहले एक मायावरण को स्वीकृति दे देते है। उदाहरण के लिए जब वे जीव और ईश्वर का एकत्व सिद्ध करते हैं तो कहते हैं कि अविद्या मे पड़ा हुआ प्रतिबिंब जीव है। वही कार्य है। माया में पड़ा हुआ प्रतिबिंब ईश्वर है। वही कारण है। प्रतिबिम्ब दोनों हैं। अर्थात् जीव अविद्यावच्छिन्न चैतन्य है और वह कार्य है। ईश्वर मायावच्छिन्न चैतन्य है और वह कारण है। इस प्रकार अद्वैत की पूर्व परिभाषानुसार कार्य-कारण रूप से एक ही चैतन्य का द्विधा ज्ञान होना ठीक नहीं है। इस प्रकार की कल्पना से 'सांकर्य-दोष' होता है। 'सांकर्य' क्या है, इसे समझना आवश्यक है। जब दो पदार्थों के गुण धर्म परस्पर अत्यन्ताभाव की स्थिति मे रहते हों और फिर यदि उन धर्मों को एकत्र कर दिया जाय तो वहाँ धर्मों का सांकर्य कहलाएगा। इसे एक उदाहरण से समझाया जाय तो कहेंगे कि सिंहत्व धर्म का अत्यन्ताभाव गोत्व धर्म में है, और गोत्व धर्म का अत्यन्ताभाव सिंहत्व धर्म मे है। अब यदि सिंहत्व और गोत्व को एकत्र कर दिया जाय तो वहाँ सांकर्य-दोष उत्पन्न हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार का सांकर्य मायावाद का आश्रय लेकर जीव और ईश्वर का अद्वैत सिद्ध करने में आता है। क्योंकि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य (जीव) में माया-वच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर) का अत्यन्ताभाव है। जब हम दोनों चैतन्य रूप धर्मों का अद्वैत सिद्ध करने के लिए उनको एकत्र करते हैं, तो चैतन्य धर्म का 'सांकर्य' होता है, अर्थात् अविद्यावच्छिन्नत्व और मायावच्छिन्नत्व तत्त्वतः भिन्न धर्म हैं जिनकी एकत्र अवस्थिति सांकर्य की स्थिति है। इसी सांकर्य को पूर्णतया निराकृत करने के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने अपने अद्वैत दर्शन मे अद्वैत शब्द के पूर्व शुद्ध' शब्द को योजित किया है—

> एतन्मते सुनिष्पन्नं सांकर्यं कार्यकारणे।
> तन्निवृत्त्यर्थमाचार्यैः पदं शुद्धं विशेषितम्॥

इस प्रकार यह 'शुद्ध' शब्द कर्मधारय समास से अद्वैत का विशेषण रूप है—

शुद्धं च तद् अद्वैतम् (वह अद्वैत जो शुद्ध है।) क्योंकि हम पहले कह चुके है कि अद्वैत पद में सांकर्य के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं। यहाँ द्विधा ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता, अन्यथा मूलोच्छेद ही हो जाता है। सब कुछ एक है। वह ब्रह्म है और वह 'शुद्ध' है। अर्थात् माया रहित है। अब प्रश्न उठता है कि जब वल्लभ मतानुसार अद्वैत में मायावाद के सांकर्य को स्थान ही नहीं है, तब व्यर्थ ही यह 'शुद्ध' शब्द 'अद्वैत' के पूर्व क्यों जोड़ा गया? इसका उत्तर शुद्धाद्वैत शब्द का विग्रह षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा करने पर मिलता है—

शुद्धयोः अद्वैतम्—'दोनों शुद्ध पदार्थों का अद्वैत'। अर्थात् ईश्वर और जीव, कारण और कार्य, नाम और रूप, ब्रह्म और जगत् दोनों ही माया रहित 'शुद्ध' हैं। किसी भी नाम-रूप में ब्रह्म सदा 'शुद्ध' या अविकृत रहता है। चाहे वह अपने मूलरूप में हो या जीव, जगत् रूप में। उसका माया से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिए श्री गिरिधर जी ने शुद्धाद्वैतमार्तण्ड में षष्ठी तत्पुरुष समास के द्वारा 'अद्वैत' शब्द के पूर्व 'शुद्ध' शब्द का प्रयोजन और औचित्य बताया है। ब्रह्म, जीव और जगत् के तात्विक एकत्व या अद्वैत को समझाने के लिए ही महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने 'अद्वैत' शब्द से पूर्व 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में जो माया के सम्बन्ध से रहित है, शुद्ध है, वही शुद्धाद्वैत है—

मायासंबंधरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः॥

शुद्धाद्वैत में
ब्रह्म में वैषम्य-नैर्घृण्य (पक्षपात और निर्दयता) दोष-निरसन

श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थो मे ऐसी आख्यायिका का उल्लेख स्वय उनके द्वारा हुआ है कि जब श्री शंकराचार्य ने महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास के ब्रह्मसूत्रों से मायावाद का आविष्कार किया तो व्यास जी को बहुत क्रोध आया और उन्होंने भगवद्वदनवैश्वानरावतार श्री वल्लभाचार्य जी को ब्रह्मसूत्रों का यथार्थ अभिप्राय प्रकट करने का आदेश दिया। ब्रह्मसूत्रों की यथार्थ व्याख्या ही श्री वल्लभाचार्य जी का परम वैदुष्यमय ग्रन्थरत्न 'अणुभाष्य' है।

आचार्य वल्लभ वेद, ब्रह्मसूत्र, गीता और श्रीमद्भागवत को अपने दार्शनिकमत 'शुद्धाद्वैत' और उपासना-पद्धति 'पुष्टिमार्ग' के लिए परम प्रमाण (प्रस्थान चतुष्टय) मानते हैं। वे इनके मूल कथ्य मे किसी प्रकार की खीचतान, तर्क-कुतर्क, वाद-विवाद के नितान्त विरुद्ध हैं। उनको यह पद्धति बिलकुल मान्य नही कि कोई दार्शनिक पहले अपने स्वतत्र तर्क से अपना कोई मत स्थापित करे और फिर येन केन प्रकारेण श्रुति-स्मृतियों के वचनों से उनका समर्थन करे। आचार्य वल्लभ श्रुतिस्मृति के मुख्यअर्थ—अभिधेयार्थ को स्वीकार करते है और लक्षणा-व्यजना का हस्तक्षेप श्रुति के वचनो मे नही चाहते। आचार्य ने अपने ग्रन्थों में अपनी इस प्रतिज्ञा का पूरा-पूरा पालन किया है। इस प्रकार उनके द्वारा प्राचीन वैदिक परम्परा का सरक्षण हुआ है। श्रुति और मूल ब्रह्मसूत्रो के आधार पर ही आचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त—शुद्धाद्वैतवाद का सघटन किया है जिसके प्रमुख घटकों में ब्रह्म की सर्वधर्मवत्ता, विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्व, सर्वकर्तृत्व, वैषम्य-नैर्घृण्य दोष राहित्य, जीव ब्रह्मअभेद, अविकृत परिणामवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, जगत्सत्यत्व, जगत्-संसारभेदादि है। इनमे से आचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का वैषम्य-नैर्घृण्य दोष राहित्य लोक को व्यामोहित कर देने वाला सिद्धान्त है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

'वैषम्य' का अर्थ है विषमता या पक्षपात और 'निर्घृण्य' का अर्थ है निर्घृणता, निर्दयता या क्रूरता। ब्रह्म में जीव-जगत् के प्रति न किसी प्रकार का पक्षपात है और न किसी प्रकार की क्रूरता। आचार्य ने यह सिद्धान्त मूल

ब्रह्मसूत्रों से ही लिया है—'वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति' (ब्रह्मसूत्र २-१-३४) किन्तु जब हम ब्रह्म का सर्वकर्तृत्व स्वीकार कर लेते हैं तो वही सुख-दुःख, प्रलय, संहारादि का कर्ता होता है। वह किसी जीव को सुखी और किसी जीव को दुःखी करने के कारण वैषम्य या पक्षपात पूर्ण तथा प्रलय संहारादि करने के कारण नैर्घृण्य या क्रूरता पूर्ण सा दिखाई देता है। लोक को यह शंका होना स्वाभाविक है, किन्तु आचार्य वल्लभ ने इस शंका को निर्मूल बताया है और बड़ी विलक्षणता से श्रुति के आधार पर ही उसका समाधान किया है।

शुद्धाद्वैतवाद के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बी दार्शनिकगण ब्रह्म में उक्त दोनों दोषों का निराकरण 'कर्म नियामकत्व' के आधार पर करते हैं, जिसका तात्पर्य है कि जीव के कर्म ही उसके भाग्य के नियामक हैं। जीव को अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है। इसलिए ब्रह्म में विषमता-क्रूरता का दोष नहीं लग सकता। किन्तु स्वयं इस युक्ति में एक बड़ा दोष है। इस युक्ति से तो ऐसा लगता है कि कर्म मानो ब्रह्म का नियमन करता है और कर्म अपनी स्वतंत्रता रखते हुए जीव को फल देता है। यदि यह भी मान लें कि ईश्वर कर्म के अनुसार जीव को तत्तत् फल देता हैं, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि कर्म स्वयं जड़ है, वह सच्चिदानन्द ब्रह्म को अपने वश में कैसे कर सकता है? अतएव यही मानना पड़ेगा कि सर्व नियन्ता परात्पर ब्रह्म ही जगत् का कारण है।

तो फिर ब्रह्म में वैषम्य और नैर्घृण्य (पक्षपात और क्रूरता) दोष का निराकरण कैसे हो? ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास ने स्वयं ही अपने उक्त सूत्रों में 'सापेक्षत्वात्' पद द्वारा 'ब्रह्म की कर्म सापेक्षता' स्वीकार करते हुए उक्त दोनों दोषों का परिहार कर दिया है। अर्थात् स्वयं ब्रह्म ही कर्ता है और वह कर्म को ध्यान में रखते हुए जीव को सुख-दुःख प्रदान करता है। एक अन्य सूत्र—'कृत-प्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र०सू०२-३-४२) द्वारा भी इन दोषों का परिहार सूत्रकार व्यास जी ने किया है। इस सूत्र का तात्पर्य है कि ब्रह्म को कर्म की अपेक्षा तो है ही। ब्रह्म को जीव द्वारा किये गये प्रयत्नों की भी अपेक्षा है। क्योंकि शास्त्र में विहित और निषिद्ध कर्मों की व्यवस्था दी गई है। यदि ब्रह्म को कर्म सापेक्ष न मानें तो शास्त्रों की विधि-निषेध व्यवस्था विच्छिन्न हो जायगी। अतः यही मानना पड़ेगा कि परमेश्वर जब जीवों को सुख-दुःख रूपी फल प्रदान करता है तो वह जीवों द्वारा किये गये प्रयत्नों

को ही ध्यान में रखकर करता है। ईश्वरकारणता स्वीकार करने से ही इन दोषों का निराकरण वैज्ञानिक धरातल पर हो सकता है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने अणुभाष्य मे 'आत्मसृष्टि' के सिद्धान्तानुसार और श्री विट्ठलनाथ जी ने 'विद्वन्मण्डन' में 'लीला' के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म मे विषमता और क्रूरता दोषों का निरसन बड़ी विलक्षणता से किया है।

श्री आचार्य जी 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' 'आत्मकृतेः परिणामात्' आदि श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म की 'आत्म सृष्टि' का सिद्धान्त उपस्थापित करते हैं। अर्थात् ब्रह्म ऊर्णनाभि (मकड़ी) की भाँति अपने स्वरूप मे से ही जगत् को उत्पन्न करता है। विरुद्धसर्वधर्माश्रयी होने के कारण ब्रह्म अनेक प्रकार की सृष्टि करता है, अनेक प्रकार के कर्म करता है किन्तु वह पक्षपात और निर्दयता से सर्वथा शून्य है। 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति' व्यास जी ने यह सूत्र लोक की शकालु धारणा को ध्यान में रखते हुए कहा है। क्योंकि उन्होंने 'फलमतः उपपत्ते' (ब्र० सू० ३-२-३८) कहकर ईश्वर के सर्वनियन्तृत्व की घोषणा करके उसी को फलदाता बताया है। किन्तु कर्म सापेक्षतावाद से भी कर्म, सर्वनियन्ता परमेश्वर का नियामक सा लगने लगता है। मानो ईश्वर भी असमर्थ या परवश हो। इस स्थिति को महान् तत्त्वचिन्तक प्रखर प्रतिभावान् आचार्य वल्लभ ने ब्रह्मसूत्र मे ही प्रतिपादित 'आत्मसृष्टि' के सिद्धान्त से पूर्णतया निरस्त कर दिया है। सूत्रकार ने 'पत्युरसामञ्जस्यात्' (ब्र० सू० २-२-३७) सूत्र से पुनः ईश्वर को कर्म का नियन्ता होने की घोषणा की है। तार्किको की भाँति यदि ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानें तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि तब उसमें पक्षपात-निर्दयता प्रभृति दोष आरोपित हो जाएँगे। यदि कर्म स्वयं जीवों का नियामक हो और वह उन्हें तत्तत् फल देता हो तो कर्म के दो स्वरूप सामने आ सकते हैं—(१) कर्म ही ब्रह्म है (२) कर्म ब्रह्म से भिन्न कोई पृथक् सत्ता हैं। यदि हम कर्म को ही ब्रह्म मान लें तो कर्म मे भी ब्रह्म के समान वैषम्य और निर्घृण्य दोष मानने पड़ेंगे, जो असम्भव है। यदि कर्म को ब्रह्म से भिन्न सत्ता मानें तो ब्रह्म उसके (कर्म के) अधीन हो जाएगा, यह भी असम्भव है। अतः श्री वल्लभाचार्य का ब्रह्मसूत्रों पर आधृत यही 'आत्मसृष्टि' वाला सिद्धान्त सब कसौटियों पर खरा उतरता है कि ब्रह्म ने अपना माहात्म्य सिद्ध करने के लिए इस सुख-दुःख रूप द्वन्द्वात्मक जगत् की सृष्टि की है। जीव, जगत्, कर्म, फल—यह सभी ब्रह्म की आत्म सृष्टि है। भगवान् का ही रूप है, उससे पृथक नहीं। सर्वनियन्ता प्रभु बिना कर्म के

भी कैसा भी फल दे सकते हैं। किन्तु कर्म के अनुसार ही जीवो को फल देने की मर्यादा उन्होने स्वेच्छा से स्वीकार की है। इसमे उनकी इच्छा ही मुख्य कारण है। कर्म स्वतंत्र कारण नहीं। निरपेक्ष होकर भी ब्रह्म कर्म की अपेक्षा रखता है, जीवो को कर्म के अनुसार फल देता है। यही ब्रह्म की विरुद्ध सर्व धर्माश्रयता और परिपूर्णता है।

गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने 'लीला' सिद्धान्त द्वारा ब्रह्मसूत्रकार व्यास और अणुभाष्यकार श्री वल्लभाचार्य के मन्तव्यों की एकरूपता सिद्ध की है। उन्होंने 'स एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्'। 'एकोऽहं बहुस्याम्' आदि वाक्यो से ब्रह्म की जगत् रूप मे लीला या क्रीडा को ही मुख्य बताया है। शेष सब गौण है। सुखदुःखात्मक यह द्वन्द्वात्मक जगत् प्रभु से अभिन्न है। अतः शुद्धाद्वैत वेदान्त में ब्रह्म मे वैषम्य नैर्घृण्य या पक्षपात-निर्दयता आदि दोषो का प्रश्न ही नही उठता। वैषम्यादि तो द्वैतभाव होने पर संभव है। लीला के लिए स्वय ब्रह्म ही जब जीव, जगत् रूप में परिणत हो जाता है, तब इन दोषों का प्रश्न ही नही उठता—

'रमणार्थमिदं सर्व ब्रह्मैव स्वेच्छयाभवत्।'

(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड—१२)

संस्कृत और भारतीय भाषाएँ : संस्कृत से हिन्दी भाषा का विकास-सन्दर्भ

संस्कृत भाषा मे लिखित ऋग्वेद के, विश्व के सबसे प्राचीन ग्रथ होने के सम्बन्ध मे कही कोई मतभेद नही है। भारतीय विश्वास परम्परा तो वेदो को अपौरुषेय और अनादि मानती है, किन्तु भौतिकतावादी पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेद को आज से कम से कम साढे तीन हजार वर्ष से कम पुराना ग्रथ नही मानते। ससार की परिष्कृत भाषाओ मे संस्कृत ही सबसे पुरानी भाषा ठहरती है। भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि में विश्व की दो ही प्राचीन भाषाएँ ऐसी हैं, जिनका व्यवहार करने वाले सभ्य लोगो ने विश्व की संस्कृति और सभ्यता के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। एक है प्राचीन आर्य भाषा और दूसरी है सामी या सेमेटिक भाषा। ऋग्वेद की संस्कृत भाषा प्राचीन आर्य भाषा का विकसित रूप है, जो विश्व की प्राचीनतम भाषा है। प्राचीन आर्य भाषा दो प्रमुख शाखाओ मे विकसित हुई। पहली है पूर्वी शाखा और दूसरी है पश्चिमी शाखा। पूर्वी शाखा भी दो उपशाखाओ मे विकसित हुई। पहली है भारतीय शाखा जिसमे ऋग्वेद की संस्कृत आती है। दूसरी है ईरानी शाखा जिसमे पारसियो का प्राचीन धर्म ग्रंथ 'जेन्द अवेस्ता' लिखा गया है। आर्य भाषा की पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत यूरोप की प्राचीन और आधुनिक भाषाएं आती है, जैसे ग्रीक, लैटिन, ट्यूटोनिक, जर्मन, फ्रेंच, इंगलिश भाषा आदि। इस प्रकार ये सभी भाषाएँ प्राचीन मूल आर्य भाषा से ही विकसित हुई हैं। भारत की दक्षिणी भाषाओं को छोड़कर अन्य समस्त प्रादेशिक भाषाएँ मूल आर्य भाषा से उत्पन्न संस्कृत भाषा की ही सन्तान हैं। जहाँ तक शब्द समूह का सम्बन्ध है, दक्षिण भारत की तेलुगु, कन्नड और मलयालम भाषाएँ भी संस्कृत के विशाल शब्द भण्डार को आत्मसात् किये हुए हैं। जिस तमिल को एक नितान्त-पृथक् परिवार की भाषा कहा जाता है, उसमे भी संस्कृत के रूपान्तरित शब्द ऐसे रूप मे घुलमिल गये है कि उन्हे आज पहचानना भी कठिन हो गया है। भारतीय भाषाओं का ही नहीं नेपाली भाषा और श्रीलंका की

भाषा सिंहली का भी संस्कृत से मूल सम्बन्ध है। जब श्रीलंका की राष्ट्र-भाषा और राजभाषा में पासपोर्ट के लिये 'बल-पत्र', प्लेटफार्म के लिए 'वेदिका', शिक्षा जगत् की सर्वोच्च उपाधि डी० लिट्० के लिए 'साहित्य चक्रवर्ती', और एम. एस-सी. के लिए 'विद्यापति' जैसे शब्दों का प्रयोग मैंने वहाँ देखा तो संस्कृत की सार्वभौमता का मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया। श्रीलंका की शास्त्रीय शब्दावली (Technical terminology) तो हमारी शब्दावली से भी कहीं अधिक संस्कृत पर आधारित है। फैक्टरी के लिए वहाँ 'कर्मान्तशाला' शब्द का व्यवहार होता है। १९६९ में पेरादेनिया विश्वविद्यालय की मुद्रा (Seal) और प्रपत्रों पर संस्कृत के सिद्धान्त-वाक्य "सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्" के प्रयोग का मैं प्रत्यक्षदर्शी रहा हूँ। अस्तु।

उत्तर भारतीय प्रादेशिक भाषाएँ—कश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बँगला, असमिया, हिन्दी और उर्दू तो प्रत्यक्ष ही अपने व्याकरणिक ढांचे और शब्द समूह के लिये संस्कृत से जुड़ी हुई हैं। हिन्दी तो सीधे संस्कृत उत्स से पालि-प्राकृत-अपभ्रंश की धारा में बहते हुए आज की विकसित स्थिति में पहुँची है। जैसे संस्कृत ने अपनी व्यापकता से सारे विश्व को प्रभावित किया है, वैसे ही हिन्दी ने अपने व्यापक राष्ट्रीय रूप से सारे भारत राष्ट्र की आत्मा से तादात्म्य स्थापित किया हुआ है। 'हिन्दी' या 'हिन्दुस्तानी' जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, पूरे हिन्द-देश या हिन्दुस्तान की भाषा का भाव प्रकट करती है, उसमें सीमित प्रादेशिकता का भाव ही नहीं है। 'हिन्दी' अपने राष्ट्रव्यापी नाम से हमारी सभी सुन्दर और समृद्ध प्रादेशिक भाषाओं को मानो यह मौन संदेश देती है कि ये सब भाषाएँ हिन्द की होने के नाते 'हिन्दी' ही हैं। इन सबकी उन्नति, प्रगति और विकास तथा परस्पर सहयोग, आदान-प्रदान से ही हिन्द या भारत की एकात्मता, अखण्डता सही अर्थों में सिद्ध होगी। इस उद्देश्य की पूर्ति में संस्कृत की व्यापक भूमिका रही है और सदा रहेगी। •

संस्कृत कभी भारत की बोल चाल की भाषा थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस पर पतंजलि के महाभाष्य से इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। कालान्तर में यही संस्कृत भाषा, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी जैसी भारतीय भाषाओं के रूप में परिणत हुई है। आदि कवि वाल्मीकि के रामायण महाकाव्य में एक प्रसंग से संस्कृत के बोलचाल की भाषा होने का संकेत मिलता है। जब

हनुमान् लंका की अशोक वाटिका में सीता को देखते हैं, तो वानर रूप में वृक्ष पर बैठे हुए वे सोच रहे हैं कि सीता से किस भाषा में बातचीत की जाए। यदि शिष्ट समाज की व्यवहार भाषा संस्कृत मे बोलते हैं तो सीता उन्हे कामरूप धारी संस्कृतज्ञ रावण ही समझने की भूल कर सकती हैं। अतः वह सीता से अयोध्या के आस-पास बोली जाने वाली जनसाधारण की प्राकृत-भाषा मे ही बोल कर निकटता और विश्वसनीयता उत्पन्न करते है। इससे संस्कृत से विकसित उन प्राकृत भाषाओ की स्थिति का पता चलता है, हिन्दी जिसकी एक कड़ी है—

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥
यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावण मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
अवश्यमेव वक्तव्य मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥
(वा० रा० सुन्दरकाण्ड ३०-१७-१९)

वाल्मीकि रामायण के इस सन्दर्भ मे 'मानुष वाक्य' शब्द से संस्कृत के साथ-साथ निरन्तर चलने वाली बोलचाल की, भाषा का जिसे जनभाषा या प्राकृत भाषा भी कह सकते हैं, बोध होता है। इस संस्कृत से ही जनसाधारण अपनी सरल-सहज भाषा का रूप ग्रहण करता रहता है। हिन्दी ने भी आजतक इसी प्रकार अपनी विकास-यात्रा की है। इस विकास-यात्रा के ३ पड़ाव हैं :—

१. १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक प्राचीन आर्य भाषा काल।
२. ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक मध्य आर्य भाषा काल।
३. १००० ई० से वर्तमान समय तक आधुनिक आर्य भाषा काल।

ऋग्वेद की ऋचाओं में साहित्यिक और बोलचाल दोनों प्रकार की भाषा के नमूने सुरक्षित हैं। यास्क के निरुक्त पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतंजलि के व्याकरण-महाभाष्य से यह प्रमाणित होता है। भगवान् बुद्ध ने इसी प्रथम आर्य भाषा काल में अपने धर्मोपदेश पालि नामक जन भाषा में दिये। पालि का भी हमारी हिन्दी भाषा से विकास-क्रम की दृष्टि से गहरा सम्बन्ध है, और पालि भी संस्कृत की ही विकास-परम्परा में है। मध्य आर्य भाषा काल में सम्राट् अशोक की धर्म लिपियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अशोक के शिलालेखो

का एक और महत्त्व है। वह है हिन्दी की वर्त्तमान लिपि देवनागरी की दृष्टि से। देवनागरी लिपि का बहुत कुछ प्राचीन रूप इन शिला लेखो मे है। सस्कृत की स्वीकृत लिपि भी देवनागरी है, और हिन्दी तथा मराठी की लिपि भी यही देवनागरी है।

सस्कृत से हिन्दी के विकास-क्रम में अशोक की धर्म लिपियों की भाषाएँ ही 'प्राकृत' कहलाने लगी। सस्कृत के साथ-साथ इन प्राकृतो का व्यवहार चलता रहा। इनमे काव्य, नाटक और धर्म-ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे। इनके व्याकरण भी रचे गये। साहित्य मे प्रयुक्त होने पर वैयाकरणो ने प्राकृत भाषाओ को भी व्याकरण के ढाँचो मे बाँध दिया। तब जन भाषाओ ने फिर विकास किया, जिसे वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' नाम दिया। प्रत्येक प्राकृत की एक अपभ्रंश हो गई। जैसे शौरसेनी प्राकृत की शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत की महाराष्ट्री अपभ्रंश, मागधी प्राकृत की मागधी अपभ्रंश आदि। हिन्दी का सीधा विकास सम्बन्ध १००० ई० से आरम्भ होता है। हिन्दी और उसकी उपभाषाओ के विकास का सम्बन्ध विभिन्न अपभ्रंशो से है, जैसे पूर्वी हिन्दी अर्ध मागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। हिन्दी की उपभाषाएँ— खडीबोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी और अनेक पहाडी उपभाषाएँ अपनी ध्वनियों और शब्द-समूह के लिए सस्कृत से सम्बद्ध हैं। संस्कृत के हजारों शब्द तत्सम रूप में हिन्दी की अपनी सम्पत्ति बन चुके हैं। यदि हिन्दी में संस्कृत का 'कृष्ण' शब्द प्रयुक्त होता है तो उसका तद्भव 'कान्हा' और भावातिरेकी रूप 'कन्हैया' या 'कनुआ' भी संस्कृत से ही सम्बद्ध है। इन सस्कृत तत्समों ने किस प्रकार अपना रूप-विकास कर हिन्दी में सहज स्थान बना लिया है इस पर विचार करें तो बहुत बडा शब्द-कोष ही बन जाएगा। केवल कुछ उदाहरणो से बात स्पष्ट हो जाएगी। सस्कृत की ग्रंथि ही गाँठ, ग्राम ही गाँव, लवंग ही लौंग, शृंग ही सींग, व्याघ्र ही बाघ, टकशाला ही टकसाल, कैवर्त ही केवट, काष्ठफल ही कठहल, और मौक्तिक ही मोती बन गये हैं। शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत धातुएँ ही आज की विकसित हिन्दी-क्रियाएँ है। 'कृ' धातु से ही करना, 'भू' धातु से होना, और 'युध्' से ही जूझना' जैसी हिन्दी क्रियाएँ बनी हैं। संस्कृत की विभक्तियाँ ही हिन्दी के परसर्गों के रूप मे आज हम व्यवहार मे लाते हैं।

संस्कृत से हिन्दी के अभिन्न संबन्धो की कथा बहुत लम्बी है। हिन्दी के कलात्मक, सास्कृतिक और व्यावहारिक, सभी रूपों मे सस्कृत की पृष्ठभूमि सहज रूप से जुडी हुई है।

तमिल साहित्य का रासो : 'परणि-काव्य'

जिस प्रकार हिंदी-साहित्य में वीर एवं शृंगार-रस-प्रधान रासो-काव्यों की परम्परा ११ वी १२ वीं शती से चली, प्रायः उसी समय या उससे कुछ पूर्व तमिल-प्रदेश मे भी वीर-शृंगार-रौद्रादि रस-प्रधान युद्ध-काव्यों की एक समृद्ध परम्परा का सूत्रपात हुआ जिसे 'परणि' नाम से अभिहित किया जाता है। जहाँ हिंदी मे रासो काव्य अब एक सुदूर अतीत की वस्तु हो गई है, वहाँ तमिल मे बाँगला देश के उदय से सम्बद्ध 'वगत्तुप्परणि' (१९७२) जैसा काव्य नवीनतम परणि-काव्य के रूप मे उस परम्परा की अखडता का साक्ष्य दे रहा है। हिंदी के रासो और तमिल के परणि-काव्यों मे वस्तु और रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से अनेक साम्य है। भारतीय ऐतिह्य पर आधारित हिंदी-रासो और तमिल-परणि के संबध मे यह साम्य और भी महत्त्वपूर्ण है। 'पृथ्वीराजरासो' और 'कलिंगत्तुप्परणि', दोनों में कल्पनातत्त्व के प्राधान्य के साथ भी इतिहासमूलकता उन्हे समानान्तर कृतियो की कोटि मे ले जाती है। यद्यपि रासो और परणि मे वस्तुगत और संरचनात्मक वैषम्य भी कम नही है, तथापि 'युद्ध' दोनो प्रकार की रचनाओ का केंद्रीय वर्ण्य विषय होने के कारण उन्हें एक कोटि की रचना सिद्ध करता है।

हिन्दी और तमिल साहित्य के इन दोनों काव्य-रूपों का तुलनात्मक अध्ययन जहाँ एक महत्त्वपूर्ण सारस्वत अनुष्ठान है, वहाँ वह राष्ट्र की भावात्मक और सांस्कृतिक एकता का भी साधक और उपकारक है। यहाँ हम संक्षेप मे तमिल के परणि-काव्य की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर उनका परिचय मात्र दे रहे हैं।

•

'परणि' शब्द वस्तुतः संस्कृत के 'भरणी' शब्द का ही तमिल उच्चारण है। 'भरणी' ज्योतिषशास्त्र मे परिगणित सत्ताईस नक्षत्रों मे से दूसरा नक्षत्र है। तमिल-प्रदेश मे भरणी नक्षत्र का संबध देवी कालिका, यमराज और उनके अनुचर भूत-पिशाचो तथा हाथियो से जोडा गया है। देवी कालिका युद्ध की अधिष्ठात्री है। भूत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी आदि युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित

रहकर रक्त-मांस-मज्जादि का भक्षण करने वाले, हर्षोन्मत्त होकर क्रीडा और नृत्य करने वाले विशिष्ट प्राणी माने गये है । प्राचीन भारतीय-साहित्य मे युद्ध के प्रसंग में इनका वर्णन प्रायः हुआ है । तुलसीदास ने भी राम-चरितमानस और कवितावली के लंकाकाण्ड मे उनकी विचित्र युद्ध-चर्चा और पिशिताशन का वर्णन किया है । तमिल प्रदेश में मान्यता है कि हाथियो का जन्म भी भरणी नक्षत्र मे होता है जो प्राचीन काल मे युद्ध के अनिवार्य उपादान होते थे । उधर यह भी मान्यता है कि भरणी नक्षत्र में वर्षा होने से सर्पो का सामूहिक मरण होता है । तुलसीदास ने, "रामकथा कलि-पन्नग-भरनी" कहकर इस तथ्य की ओर संकेत किया है । इस प्रकार भरणी का सबंध मृत्यु से भी जुड़ा हुआ है । युद्ध में तो मृत्यु ही ताण्डव करती दिखाई देती है । युद्ध मे उभय-पक्ष के योद्धाओं की मृत्यु अनिवार्य है । अन्त में किसी एक पक्ष की विजय भी युद्ध का स्वाभाविक परिणाम है ।

तमिल-प्रदेश मे प्राचीन काल से ही यह मान्यता है कि भरणी नक्षत्र मे उत्पन्न क्षत्रिय बालक युद्ध में विजय प्राप्त कर शासन का सूत्र सँभालता है । इस प्रकार 'परणि' (भरणी) शब्द लक्षणा से युद्ध, उसमे प्रतिभट के विनाश और नायक की विजय का बोधक है । उदाहरण के लिए तमिल के सबसे प्राचीन, लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध परणि काव्य 'कलिंगत्तुप्परणि' में चोलराज कुलोत्तुंगन् एवं कलिंगराज अनन्तपद्मन् के बीच १११२ ई० में हुए युद्ध और उसमे चोलराज कुलोत्तुंगन् की विजय का वर्णन है ।'परणि' नाम की सार्थकता के विषय मे अन्य अनेक मत भी हैं ।

परणि-काव्य का सामान्य स्वरूप

परणि-काव्य तमिल की लघु साहित्य-विधा में आता है और यह खण्ड-काव्य होता है । परणि-काव्य की संरचना एक निश्चित क्रम के अनुसार होती है । अर्थात् उसके प्रत्येक अध्याय का वर्ण्य विषय निश्चित है । उसमें व्यतिक्रम नहीं होता । उदाहरणार्थ, प्रत्येक परणि-काव्य का द्वितीय अध्याय शृंगार-वर्णन के लिए नियत है । काव्य का नाम प्रतिनायक के नाम पर रखा जाता है । परणि काव्य में दस अध्याय या प्रकरण होते हैं । किन्हीं काव्यों में तेरह अध्यायो का अपवाद भी है । दस अध्यायों में क्रमशः ये विषय निरूपित होते हैं —

१. कडवुल् वालत्तु — मंगलाचरण और देवस्तुति ।

२. कडैतिरप्पु— विजयी नायक का आगमन और नायिका से द्वार खोलने का निवेदन ।

३. काडुपाडियदु—उस मरुभूमि का वर्णन जहाँ कालिका का मंदिर अवस्थित होता है ।

४. कोविल पाडियदु—कालिका के मंदिर का सविस्तर वर्णन ।

५. देवियैप्पाडियदु—देवी कालिका का ओजमय वर्णन ।

६. पेयगलैप्पाडियदु—भूतपिशाचों का अद्भुत वर्णन ।

७—पेयमुरैप्पाडु—कालिका के सम्मुख पिशाचों का अपनी असह्य क्षुधा का वर्णन ।

८. कालिक्कु कूलि कूरियदु—'कूलि' नामक पिशाची का कालिका को युद्ध छिड जाने की सूचना देना ।

९ कलंपाडियदु—युद्ध और युद्धक्षेत्र का विशद वर्णन ।

१०. कूलडुवल—युद्ध मे मृत योद्धाओ, गजतुरगादि के मास-मज्जा-रक्तादि से पिशाचो द्वारा दलिया बनाये और भक्षण किये जाने का बीभत्स वर्णन ।

सभी प्राचीन परणि-काव्यों में उक्त क्रम का परिपालन किया गया है, किन्तु इधर चीन-भारत युद्ध और बांगला देश-पाक-युद्ध को अधिकृत कर लिखे गए 'चीनत्तुप्परणि' (१९६२) और 'बगत्तुप्परणि' (१९७२) में परिवर्तित देश-काल के कारण स्वाभाविक रूप से शैलीगत, संरचनात्मक परिवर्तन हुआ है ।

तमिल मे अद्यावधि सत्रह परणिकाव्यों की चर्चा हुई है जिनमें नौ तो उपलब्ध हैं और आठ परणि-काव्यों का उल्लेख प्राचीन शिलालेखों या ग्रन्थों मे पाया जाता है । प्राप्त परणि-काव्यों में तीन ऐसे हैं जिनमे अमूर्त का मूर्तीकरण रूपक बांधकर किया गया है, जैसा कि हम प्रबोधचन्द्रोदय जैसी अनेक संस्कृत कृतियों और प्रबोधचन्द्रोदय (जसवन्त सिंह, ब्रजवासी दास) देवमाया प्रपंच नाटक, पाखण्ड विडम्बन (भारतेन्दु) ज्योत्स्ना (पंत) जैसी हिंदी-कृतियो मे देखते हैं । यहाँ हम तमिल के परणि-काव्यों की सूची प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. कलिंगत्तुप्परणि (रचयिता जयंगोण्डार १२ वीं शती) पद्य संख्या ५९६ है ।

तक्कयागप्परणि (र० ओटक्कूत्तर १३ वीं शती) पद्य सख्या ८२४ है। इसमें प्रसिद्ध पौराणिक कथा—दक्ष-यज्ञ-विध्वस का वर्णन है।

अज्ञवदैप्परणि (र०तत्तुवराय स्वामी १५ वी शती) पद्य संख्या ४८३ है। यह एक रूपकात्मक दार्शनिक काव्य है, जिसमे ज्ञान और अज्ञान के युद्ध और अन्त में ज्ञान की विजय का वर्णन है।

मोहवदैप्परणि (र० तत्तुवराय स्वामी १५ वीं शती) पद्य संख्या ८४८ है। इसमे मोह और विवेक का युद्ध तथा विवेक की विजय दिखाई गई है।

इरणियन्वदैप्परणि (र० तिरुक्कुरुगैप्पेरुमाल कविरायर् १६ वी शती) पद्य संख्या ६८३ है। इस परणि का वर्ण्य विषय हिरण्यकशिपु का नृसिंहावतार द्वारा वध है। इसमें भी परम्परागत युद्ध-वर्णन है। इस परणि के रचयिता के रूप मे जो नाम दिया गया है, वह अनुमानित है, निश्चित नही।

पाशवदैप्परणि (र० वैद्यनाथ देशिकर् १७ वीं शती) पद्य संख्या ७३५ है। यह भी एक रूपकात्मक दार्शनिक काव्य है, जिसमें पाश रूपी शत्रु के वध का वर्णन है। युद्ध का परम्परागत वर्णन तो यहाँ भी है ही।

तिरुच्चेन्दूर परणि (अनुमानित रचयिता चीनिप्पुलवर) इस परणि का रचना काल भी अनिश्चित है।

चीनत्तुप्परणि (र० मु० पि० बालसुब्रह्मण्यम् १८६२ ई०) यह एक आधुनिक युद्ध काव्य है, जिसमें जवाहरलाल नेहरू नायक और आक्राता चीन प्रतिनायक है।

गत्तुप्परणि (अरंग श्रीनिवासन् १८७२ ई०) इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस परणि में परम्परा पालन का आग्रह उतना नही है। इसमे बंगला देश के पाकिस्तान से युद्ध का यथार्थता की भूमि पर ओजस्वी चित्रण हुआ है।

उपर्युक्त उपलब्ध नौ परणि काव्यों के अतिरिक्त प्राचीन शिलालेखों और ...त्यिक ग्रंथों में आठ परणि काव्यों की चर्चा या नामोल्लेख मिलता है। ...८ ई० के 'तमिल परणि' का पता नही चलता। 'कोप्पत्तुप्परणि' 'कूडल ...त्तुप्परणि' 'कंसवदैप्परणि' (कंसवध परणि) 'कलशैचिदम्बरेशर परणि'

(रचयिता सुब्रह्मण्यम् मुनिवर १८ वीं शती) भी अप्राप्य है। अकुजिग्राम मंदिर के शिलालेख में भी नामनिर्देश के बिना दो परणि काव्यों का उल्लेख है। तोलगाप्पियम्' के टीकाकार पेराशिरियर् तथा शिलप्पदिकारम् के टीकाकार अडियार्कुनल्लार ने किसी परणि के कुछ सुन्दर पद्यों को उद्धृत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे महान् राष्ट्र भारत के सुन्दर अंचल तमिल प्रदेश की लोक-संस्कृति, लोक-चेतना और साहित्यिक प्रतिभा को समझने के लिए परणि काव्य परम उपादेय स्रोत हैं।

(इस लेख में सहायता के लिए मैं अपने सहयोगी मित्र डा० देशिक श्रीनिवास वरदन् का कृतज्ञ हूँ।)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगल-चेतना

स्वनामधन्य आलोचक मूर्धन्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी भाषा और साहित्य की ही नहीं, समस्त भारतीय प्रतिभा, किंबहुना समग्र ऋतम्भरा मानवीय प्रज्ञा की कालजयी ऊर्जा के एक भास्वर सन्दोह हैं। भारतीय चिन्तन की शब्दावली में कहना चाहें तो वे एक 'श्रीमदूर्जित, विभूतिमत्सत्त्व' है। हिन्दी के अतिरिक्त तमिल-तेलुगु आदि भारतीय भाषाओं और साहित्य के जिन निर्मत्सर, उदार और सत्यानुसंधायी मनीषियों ने आचार्य शुक्ल के साहित्य-समीक्षक स्वरूप की थोड़ी बहुत भी परख की है, उन्होंने भी उनकी अद्‌भुत, सूक्ष्म तत्त्वान्वेषिणी प्रतिभा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। तेलुगु भाषा और साहित्य के एक मर्मज्ञ विद्वान् ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक से साहित्य-समीक्षा विषयक चर्चा में कहा था, "हिन्दी में तो क्या, तेलुगु और अन्य दाक्षिणात्य भाषाओं और साहित्य में भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसी प्रतिभा का साहित्य-समीक्षक अभी प्रतीक्षित है।" एक अहिन्दी भाषी साहित्यकार द्वारा आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि का यह सहज सम्मान जहाँ एक ओर उनकी देशकाल निरपेक्ष, निर्विवाद प्रतिष्ठा का प्रमाण है वहाँ हिन्दी के ही एक कृती आलोचक द्वारा उनके प्रति असम्मान की शाब्दिक अभिव्यक्ति आचार्य शुक्ल के कोटि-कोटि प्रशंसकों के लिए खेद और क्लेश का कारण बनी है। मेरा तात्पर्य प्रगतिवादी समीक्षक प्रवर प्रोफेसर नामवरसिंह जी से है, जिनकी कृति 'दूसरी परम्परा की खोज' में आचार्य शुक्ल के प्रति अनादर का भाव व्यक्त हुआ है। आज के मार्क्सवादी आलोचकों में से एक प्रमुख आलोचक से वार्तालाप करने पर ज्ञात हुआ कि स्वयं मार्क्सवादी आलोचकों को भी प्रो० नामवरसिंह जी के उन वक्तव्यों पर खेद है और वे प्रो० नामवरसिंह जी द्वारा आचार्य शुक्ल के प्रति किये गये निन्दात्मक वक्तव्यों को अनावश्यक और अप्रासंगिक समझते हैं। इतना ही नहीं, आचार्य शुक्ल जी के इस जन्म शती वर्ष में मार्क्सवादी आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि का सही मूल्यांकन करने का सत्संकल्प भी किया है। आज की दो प्रमुख पत्रिकाओं 'कथन' और 'उत्तर-गाथा' में साहित्य

मे यथार्थवाद के वास्तविक तात्पर्य पर जो लम्बी बहस चल रही है उसका उद्देश्य भी आचार्य शुक्ल जैसे महान् और कृती लेखकों का पुनर्मूल्यांकन ही है। आचार्य शुक्ल जी पर सतही तौर पर सामन्तवादी और पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थक होने के जो आरोप लगाये गये है, उनकी जाँच आवश्यक हो गई है।

'दूसरी परम्परा की खोज मे' जहाँ तक मुझे ज्ञात हुआ है, (और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संभाव्य है।) प्रो० नामवरसिंह जी द्वारा आचार्य शुक्ल जी की निन्दा (या उनकी समीक्षा दृष्टि की निन्दा) की एक पृष्ठ भूमि है। वे वक्तव्य मन्तव्य एक विशिष्ट मनःस्थिति की देन हैं। वे सभवतः प्रो० नामवरसिंह जी के स्थायी मन्तव्य नही हैं। उनमें वदतोव्याघात भी हैं, क्योंकि प्रो० नामवरसिंह जी अपनी पूर्व समीक्षाओ में कही भी आचार्य शुक्ल के प्रति अश्रद्ध या अनुदार नही रहे हैं। लगता यह है कि प्रो० नामवरसिंह जी अपने गुरुवर्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति श्रद्धातिरेक से उन्हे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-परम्परा मे न रखकर अतिरिक्त सम्मान देना चाहते है, और उन्हे एक दूसरी ही परम्परा का खोजी, कहना चाहते हैं। यहाँ तक तो कोई अनौचित्य नही है। कोई हानि भी नही। दो महान् कृतिकारो मे चिन्तन-भेद सहज सम्भव है। किन्तु दो कृती आलोचकों में से एक को नयी परम्परा का जनक सिद्ध करने के लिए दूसरे की निन्दा आवश्यक या अनिवार्य नही है। किन्ही दो महान् कृती लेखकों की तुलना सम्भव भी नही है। सभी कृतिकार देशकाल सापेक्ष होते है। प्रत्येक साहित्यकार के कृतित्व मे उसके सहज संस्कार और उसके युग के अन्तर्विरोध भी होते ही हैं। इस स्थिति के बावजूद मानवीय चिन्तन की अखण्ड परम्परा में किसी भी महान् कृतिकार के महत्त्व को नकारा नही जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे ही कृती समीक्षक हैं। किन्तु 'दूसरी परम्परा की खोज' मे प्रो० नामवर सिंह जी ने आचार्य हजारीप्रसाद जी की भक्ति में आचार्य शुक्ल को नकारने जैसा स्वर अपनाया है। हो सकता है आज स्वयं प्रोफसर नामवरसिंह जी को भी उसका मलाल हो। अपने व्यक्तिगत अनुभव और लम्बे परिचय के आधार पर मैं जानता हूँ कि प्रो० नामवरसिंह जी मूलतः एक अत्यन्त शालीन और सारस्वत-सत्य-निष्ठ व्यक्ति हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनो ही अपने-अपने व्यक्तित्व और कृतित्व मे महान् हैं—'को बड़ छोट कहत अपराधू।' वस्तुनिष्ठ और यथार्थवादी दृष्टि की तो कम से कम यही अपेक्षा है।

इस सारस्वत-निष्ठा की तुला पर मार्क्सवादी आलोचक प्रवर डा० रामविलास शर्मा की समीक्षा दृष्टि सही वजन रखती है। चिन्तन और संस्कृति के अखण्ड और अजस्र परम्परागत प्रवाह से अधुनातन संग्रह और त्याग का उनका विवेक और अनाविल समीक्षा–दृष्टि हमें पूर्वग्रहो और व्यक्तिगत राग-विराग से उच्चतर स्तर पर प्रतिष्ठित करती है। डा. रामविलास शर्मा ने किसी पूर्ववर्ती कृती साहित्यकार की न तो अवहेलना की है और न आज के युग को कुछ न कुछ भी न दे सकने के लिये अयोग्य ठहराया है। यही सर्जनात्मक, शुद्ध सामाजिक दृष्टि है। इसी समग्र मानवीय दृष्टि से उन्होंने तुलसी, निराला, प्रेमचन्द और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान् कृती साहित्यस्रष्टाओं के व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षा की है। आज के अनेक मार्क्सवादी आलोचक अब इसी समीक्षा दृष्टि को अपना रहे हैं जिनमे प्रो० शिवकुमार मिश्र प्रभृति आलोचक उल्लेखनीय हैं।

यह वर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्मशती वर्ष है। द्विवेदी-युग में विकसित आचार्य शुक्ल के सबल समर्थ नेतृत्व मे हिन्दी आलोचना ने जो विकास-यात्रा की, वह सदैव स्मरणीय रहेगी। यह वर्ष उसी विकास-यात्रा का एक पडाव है। यहाँ थोडा ठहरकर हमें समाहित चित्त से देखना परखना चाहिए कि हिन्दी आलोचना के भीष्म पितामह आचार्य शुक्ल के कृतित्व का तात्त्विक स्वरूप और महत्त्व क्या है। उनके विशाल और गम्भीर कृतित्व की आज के युग में क्या प्रासंगिकता है। उनकी मूल समीक्षा-दृष्टि आज के युग में कहाँ तक सार्थक भूमिका निर्वाह कर सकती है। गम्भीरता से मनन करने पर मार्क्सवादी आलोचक भी अब इस निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रति पहले वे न्याय नहीं कर सके, और अब उन्हें इस महान् समीक्षक के कृतित्व में बहुत कुछ ग्राह्य, उपादेय, प्रगतिशील तत्त्व और यहाँ तक कि जनवादी दृष्टि भी मिलती है। वे अब ईमानदारी से आचार्य शुक्ल के कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन करने का सत्संकल्प ले रहे हैं। प्रायश्चित्त तो कैसे कहें ?

यदि हम अतंद्रित भाव और सूक्ष्म दृष्टि से आचार्य शुक्ल के समग्र कृतित्व का मूल्यांकन करें तो पाएँगे कि वे मूलतः एक लोकनिष्ठ लेखक हैं। आज की प्रगतिशील शब्दावली का एक बहुप्रयुक्त पद है 'प्रतिबद्धता'। यदि इस पद का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल सच्चे अर्थों मे एक

'प्रतिबद्ध' लेखक हैं, जिनकी समग्र और सच्ची निष्ठा जन सामान्य या 'लोक' के प्रति है। चाहे 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था, 'तुलसी का भक्ति मार्ग', मानस की धर्मभूमि' 'घृणा', 'क्रोध', 'कविता क्या है' ? जैसे निबन्ध हों या 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' जायसी ग्रथावली की विस्तृत भूमिका जैसी कालजयी कृतियाँ हो सर्वत्र उनकी लोकनिष्ठा और जनसामान्य के प्रति अनुराग मुखर है। सैकडो उदाहरणो में से यहाँ एक उद्धृत है—"जब कोई रामभक्त, पुत्र-कलत्र, भाई बन्धु का राग छोड़ने, कर्मपथ से मुँह मोडने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने मे तो वही रामभक्त-सा लगता है, जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चीटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दु.ख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिये कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता है, और खिले हुए फूलो को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझसे क्या प्रयोजन' ?" कहकर विरक्त या उदासीन रहेगा—क्रोध, करुणा, स्नेह, आनन्द आदि को पास तक न फटकने देगा—उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ, भक्त कदापि न कह सकूँगा। राम का नाता ससार से नाता जोडता है, तोडता नही। (चिन्तामणि, 'लोभ और प्रीति', पृष्ठ ९१-९२) मार्क्सवादी, जनवादी आलोचक-विचारक सदा जिस प्रत्यक्ष जगत् से सम्बद्धता और सामान्य मनुष्य या आम आदमी के साथ लगाव की बात करते हैं, आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त उद्धरण मे व्यक्त-विचारों से अधिक उसकी परिणति और कहाँ मिलेगी ? समता, मानवीय-प्रेम, सहानुभूति, न्याय के समर्थन और अन्याय के विरोध जैसी वे मूल जीवन-दृष्टियाँ है, जिनके प्रति जनवादियों का आग्रह है किन्तु जिनका जोरदार समर्थन और प्रतिपादन आचार्य शुक्ल साम्यवादी, प्रगतिवादी, मार्क्सवादी जैसा कोई नारा या तमगा-ठप्पा लगाए बिना स्वतः ही अपनी मूल चेतना द्वारा अपनी कृतियों में कर रहे हैं।

प्रायः सभी भावों या मनोविकारों के स्वरूप का विवेचन आचार्य शुक्ल ने समाज-सापेक्ष होकर ही किया है। क्रोध की सामाजिक उपयोगिता

बताते हुए वे कहते हैं—"सामाजिक जीवन मे क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुँचाए जाने वाले बहुत से कष्टों की चिरनिवृत्ति का उपाय ही न कर सके।

(चिन्तामणि, 'क्रोध', पृ० १३१)

तुलसी के प्रति आचार्य शुक्ल जी का पक्षपात जग जाहिर है। प्रगतिवादी और मार्क्सवादी आलोचक तुलसी को ब्राह्मणवादी, परम्परावादी, प्रतिक्रियावादी, साम्राज्यवादी, सामन्तवादी, पूँजीवादी और न जाने क्या-क्या मानते रहे है। तुलसी के प्रति आचार्य शुक्ल जी का ममत्व होने से ये सब आरोप उन पर भी स्वतः चर्स्पां से हो गये लगते है। किन्तु इन आलोचकों की स्थूल दृष्टि अन्तर्निहित सत्य तक पहुँचने मे अभी तक असमर्थ रही है। तुलसी किसी अनाचारी को नहीं बख्शते, चाहे वह ब्राह्मण हो या राजा। जो राजा राम, तुलसी का आदर्श हैं, वह आज के किसी भी तथाकथित जनवादी से कहीं अधिक लोक-निष्ठ, जनतान्त्रिक और ईमानदार है—'लोकस्याराधनार्थाय त्यजेयं जानकीमपि' ("लोक-कल्याण के लिए मै अपनी पत्नी सीता का भी त्याग कर सकता हूँ।") कहने वाले राम का लोक-नायक, लोक-निष्ठ स्वरूप ये है—

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर-द्विज-पुरबासी सब आए।

× × × ×

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहौ न कछु ममता उर आनी।।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु, करहु जौ तुम्हहि सुहाई।

× × × ×

जौ अनीति कछु भाखौं भाई। तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई।।

(रामचरितमानस उत्तरकाण्ड १-३ दोहा ४३ से पूर्व)

राम का चरित सामान्य लोक-जीवन का एक समग्र और संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता है और तुलसी उसके सफल चित्रकार है। तुलसी की लोक के प्रति निष्ठा या प्रतिबद्धता ही आचार्य शुक्ल की तुलसी के प्रति निष्ठा या पक्षपात का मूल कारण है। राम को आचार्य शुक्ल लौकिक पुरुष मानकर अपनी यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण देते हुए कहते हैं—"यह धब्बा (बालि को छिपकर मारना) ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच

हमारे भाई-बन्धु बनकर आये थे और हमारे ही समान सुख-दुःख भोग कर चले गये। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आये थे, मनुष्यता दिखाने आये थे। भूल-चूक या त्रुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है ?"

(त्रिवेणी, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १५६)

मार्क्सवादी पारिभाषिकता के साथ आचार्य शुक्ल जैसे सच्चे मनीषी साहित्यकार, ईमानदार आदमी और लोकनिष्ठ समीक्षक पर 'सामन्तवाद समर्थक' 'पूँजीवाद समर्थक' या 'प्रतिक्रियावादी' होने का आरोप स्वयं की ही संकीर्ण दृष्टि और अकृत्स्नवित्ता का प्रमाण देना है। यहाँ आचार्य शुक्ल की मूल लोक चेतना पर ही ध्यानाकर्षण करना हमारा उद्देश्य है। हमे किसी से रागद्वेष नहीं है। अलमतिविस्तरेण।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और भारतीय संगीत

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व समस्त हिन्दी-साहित्य-संसार मे अपना सानी नही रखता। यदि कहा जाय कि सारे आधुनिक भारतीय साहित्य मे, उन जैसी प्रतिभा दुर्लभ है, तो भी अत्युक्ति न होगी। जब हम साहित्य और जीवन के अनेक क्षेत्रों मे 'भारतेन्दु' की 'चाँदनी' छिटकी पाते है, तो हमे विस्मयपूर्ण आनन्द होता है।

साहित्य की प्रायः सभी विधाओ मे भारतेन्दु के अप्रतिम योगदान की बात सर्वविदित है, किन्तु साहित्य के ही सहोदर, संगीत में भी उनकी पैठ उतनी ही गहरी थी। शायद भारतेन्दु का यह उज्ज्वल पक्ष, अपेक्षाकृत कम उजागर हुआ है। साहित्य और सगीत कला का सहज संस्कार मनुष्य को 'पुच्छ विषाण हीन पशु' होने से बचाता है। यदि भर्तृहरि की इस उक्ति को हम मानवता की सहज कसौटी मान लें, तो हम देखते हैं कि भारतेन्दु जी उस पर पूरी तरह खरे उतरते हुए एक सुसंस्कृत मानव का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारतेन्दु बाबू न केवल, संगीत के अनन्य भक्त थे, अपितु उनका साहित्य प्रमाणित करता है कि वे एक कुशल संगीतज्ञ भी थे। अपने काव्यों, नाटकों एवं निबन्धों मे उन्होंने संगीत के सिद्धान्त और क्रियापक्ष—दोनों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनकी दो रचनाएँ—**'संगीत सार'** और **'जातीय संगीत'** तो सीधे संगीत विषय का ही निरूपण करती हैं। उनकी कई काव्य-रचनाएँ, जैसे—**प्रेम मालिका**, **प्रेम तरंग**, **प्रेम प्रलाप**, **होली**, **मधुमुकुल**, **रागसंग्रह**, **वर्षा-विनोद**, **गीत गोविन्दानन्द**, **कजली-मल्हार-संग्रह**, **चैती-संग्रह** आदि भी सगीत से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। भारतीय संगीत के प्राचीन केन्द्र काशी ने भी भारतेन्दु मे संगीत संस्कार जगाया था।

भारत की इस अनुपम संगीत कला से उन्हें कितना प्रेम था, और उसके पुनरुद्धार के लिए वे कितने प्रयत्नशील थे, इसका प्रमाण उनके **'संगीत-सार'** नामक निबन्ध से मिलता है। अपने समकालीन धनी वर्ग और संगीत प्रेमियों से अपील करते हुए वे कहते हैं—

"सब जानकार लोग मिलकर, एक बेर, इस लुप्त हुए शास्त्र का भली भाँति मथन करके, इसकी एक सनियम, उज्ज्वल परिपाटी बना डाले। नही तो यह शास्त्र कुछ दिनो मे लोप हो जायेगा। और हमारे हिन्दुस्तानी अमीरो को चाहिए कि 'वर वधू' के मुखचन्द्र की सुन्दरता ही पर इस विद्या की इतिश्री न करें, कुछ आगे भी बढें।"

संगीतसार मे भारतेन्दु जी ने संगीत-कला के इतिहास, संगीत के विभिन्न सम्प्रदायो और सिद्धान्तों का सोदाहरण, विशद विवेचन किया है। संगीत की परिभाषा और संगीत के विभिन्न मतों का उल्लेख उन्ही के शब्दों मे देखिए—

'गाना, बजाना और नाचना, इसके समुच्चय को 'संगीत' कहते है। प्राचीनकाल मे भरत, हनुमान्, कलानाथ और सोमेश्वर, यह चार मत संगीत के थे। × × × । सात अध्यायों मे यह शास्त्र बँटा है—जैसे स्वर, राग ताल, नृत्य, भाव, कोक, और हस्त। सम्यक् प्रकार से जो गाया जाय, उसे 'संगीत' कहते हैं'।

भारतेन्दु ने अपने दूसरे निबन्ध—'**जातीय संगीत**' में लोकसंस्कृति की सुरक्षा और लोकगीतो के माध्यम से जनजागरण का प्रयास किया है। मानव-हृदय के मर्म को छूने की सहज शक्ति संगीत मे है। इस तथ्य को भारतेन्दु भलीभाँति जानते थे। हमारी भारत माता ग्राम वासिनी है। नयी राष्ट्रीय चेतना को गाँवों तक ले जाने मे लोक गीतो के माध्यम से उन्होंने जनजागरण का प्रयास किया है। उन्होंने लोकगीत को माध्यम माना। उन्होने लिखा है—'मैंने सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जाए।

भारतेन्दु ने विभिन्न भारतीय भाषाओं मे लोक प्रचलित गीत रूपो की रचनाएँ की हैं—ब्रजभाषा मे लावनियाँ, बँगला, पंजाबी, उर्दू गीत, गुजराती के गरबा-गीत, पूरबी, गज़ल, कजली, मल्हार, ठुमरी, दादरा और बारह मासा—सभी कुछ लिखकर उन्होंने अपने संगीत प्रेम और संगीत-ज्ञान का परिचय दिया है। **प्रेम मालिका** के पदों पर भारतेन्दु जी ने विभिन्न रागों का नामोल्लेख कर दिया है। सारंग, केदार, रामकली, विभास, आसावरी आदि निश्चय ही उनके प्रिय राग थे, जिन्हें वे अपनी ही रचनाओं मे आबद्ध करके गाते गवाते होंगे। राग हमीर के लिए उनकी एक गीत रचना प्रस्तुत है—
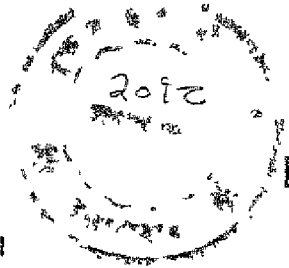
'ठाढे हरि तरनि तनया तीर।
संग श्री कीरतिकुमारी पहिरि झीने चीर।
उरनि फूलन माल जापै भँवर गन को भीर॥
बारने हरिचन्द छबि लखि श्याम-गौर सरीर॥

इसी प्रकार राग संग्रह मे भारतेन्दु जी ने वल्लभ सम्प्रदाय की परम्परा का हवेली संगीत प्रस्तुत किया है। मदिरों में प्रतिदिन और विभिन्न वर्षोत्सवों, पर गाये जाने योग्य १५१ पद अनेक राग रागिनियो के निर्देश सहित इस संग्रह में हैं। राग तोड़ी में निर्दिष्ट, मकर संक्रान्ति के पर्व का यह पद द्रष्टव्य है—

करत दोउ यहि हित खिचरी दान।
जामें सदा मिले रहें ऐसेहि, गौर-श्याम सुख खान।
चित्र वस्त्र धरि परम नेह सों, जोरि पान सों पान।
'हरीचन्द' त्योहार मनावत सखिजन वारत प्रान॥

भारतेन्दु जी ने अपनी काव्य रचनाओं मे न केवल सैकड़ो राग-रागिनियो का निर्देश किया है, अपितु इकताल, तीनताल, चौताल, झपताल, धमार, चर्चरी जैसी तालों का भी उल्लेख करके अपनी संगीत-ताल कुशलता का परिचय दिया है— देखिए, धमार ताल में आबद्ध, काफी की होली का कुछ अंश—

सुन्दर श्याम सिरोमनि प्यारो, खेलत रस भरि होरी जू।
इत सब सखा लसत रँग भीने, उत वृषभानुकिसोरी जू॥
नाचत गावत रंग बढ़ावत, करन बजावत तारी जू।
हँसत हँसावत रंग बढ़ावत, गावत मीठी गारी जू॥

सं० १९३४ विक्रमीय मे रचित प्रेम तरंग में भारतेन्दु बाबू के संगीत-प्रेमी रूप की अच्छी झाँकी मिलती है। इस रचना मे शास्त्रीय राग-रागिनियों के अतिरिक्त, लालित्य और शृंगार प्रधान सरल संगीत रूप खयाल, लावनी, पूरबी, रेखता, आदि का प्रयोग किया गया है— खयाल का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

न जाय मोसो ऐसौ झौंका सहिलो न जाय।
झुलाऔ धीरै डर लगै भारी, बलिहारी हो बिहारी।
मोसों ऐसौ झौका, सहिलो न जाय।

"हरीचन्द" निपट में तो डरि गई प्यारे मोहि लेहु झट गरवा लगाय ।।
न जाय मोसों ऐसौ झौंका सहिलो न जाय ।।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली मिश्रित लावनी का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

जहाँ देखो वहीं दगा और फरेब औ' मक्कारी है ।
दुख ही दुख से, बनाई यह सब दुनिया सारी है ।।
आदि मध्य औ' अंत एक रस, दुख ही इसमें जारी है ।
कृष्ण भजन बिनु और जो कुछ है वह सब ख्वारी है ।।
'हरीचन्द' भव पक छुटै नहिं बिना भजन रस के धोए ।
मुँह काला कर, बखेड़े का हम भी सुख से सोए ।।

चन्द्रावली नाटिका के विष्कम्भक में नारद की वीणा का जो अद्भुत वर्णन भारतेन्दु ने किया है' उससे संगीत के प्रति उनका आदर, गहन-प्रेम और संगीत-शास्त्र का ज्ञान मुखरित होता है । विविध उत्प्रेक्षाओं से संगीत की महनीयता, दुर्गमता और दिव्यता का निरूपण यहाँ हुआ है—एक सुन्दर छप्पय प्रस्तुत है—

जुग तूँबन की बीन परम सोभित मन भाई ।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई ।।
आरोहन अवरोहन के कैं, द्वै फल सोहैं ।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे, जगमन मोहैं ।।

× × × ×

मनु गावन सो श्रीराग के बीना हू फलती भई ।
कै राग सिंधु के तरन हित, यह दोऊ तूँबी लईं ।।

इस प्रकार भारत की अमूल्य निधि संगीत के प्रति भारतेन्दु जी ने अपने जन्मजात प्रेम और आदर का प्रमाण शताधिक रचनाओं में दिया है ।

श्रीमद्भागवत में राम का लोकरंजक रूप

श्रीमद्भागवत यद्यपि कृष्ण भक्ति प्रधान भक्तिसंहिता है, तथापि उसके नवमस्कन्ध मे मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पुण्य-चरित बड़ी मार्मिकता से निरूपित हुआ है। भारतीय जनमानस मे ब्रह्माद्वैतभावना इतनी दृढता से बद्धमूल है कि उसे राम और कृष्ण का अभेद समझाने के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नही पडती। भगवान् के सभी अवतारो को भारतीय जन-मानस तत्त्वतः एकत्व-दृष्टि से देखता है। श्रीमद्भागवत मे जहाँ-जहाँ भगवान् के सगुण अवतारो का वर्णन है, वहाँ-वहाँ रामावतार का भी उसी एकत्व भावना से निर्देश है। (देखिए श्रीमद्भागवत, १.३.२२, २.७.२३) राम और कृष्णावतार के साथ विशेष रूप से लोकरक्षण और लोकरजन का पक्ष जुडा हुआ है। भागवत के नवमस्कन्ध के १०वें और ११वें अध्यायों मे क्रमशः ५६ और ३६ श्लोको में श्रीराम का चरित वर्णित है। किन्तु वही केवल एक श्लोक में भी बडी मार्मिक समास-शैली में राम का चरित कह दिया गया है। (देखिए, श्रीमद्भागवत, ९-१०.४) लोकरक्षण के अभाव मे लोकरजन का प्रश्न ही नही उठता। अतः राम द्वारा लोकरक्षण का सहज विकास लोकरंजन के रूप मे हो जाता है, जिसकी चरम परिणति कृष्णावतार मे होती है।

भूभारहरण और लोकानुरंजन के लिए देवताओं द्वारा प्रार्थित 'हरि' ही अपने अंशांश से राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न-इन चार रूपों में दशरथ के यहाँ पुत्र रूप से उत्पन्न हुए :—

> तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
> अंशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः॥
> रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति सज्ञया॥९-१०.२.

रामचरित की अनन्तता और विविधता सर्वविदित है। श्रीमद्भागवत का रामचरित संक्षिप्त होते हुए भी राम के महनीय चरित और व्यक्तित्व को बड़ी प्रभविष्णुता से उपस्थापित करता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अनेक

दृष्टियो से भागवत से प्रेरणा ली है। भागवतीय रामचरित के वन्दना श्लोको की समास-शैली से प्रभावित होकर तुलसी ने रामचरितमानस के विभिन्न काण्डो के मंगलाचरणों की रचना की है।

(देखिए श्रीमद्भागवत 'गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो' आदि ९.१०.४)

भागवतीय रामकथा मे अपना कुछ ऐसा अद्भुत रस है जो उसे विशेष रंजक बनाता है। यथा, सीता स्वयंवर मे शिव के 'पिनाक' नामक धनुष को तीन सौ वीरो द्वारा लाया जाता है, जिसे राम बालगजवत् ईख के समान तोड़कर लोक का रंजन करते हैं। सीता को ब्याह कर अयोध्या के मार्ग में चलते-चलते परशुराम के गर्व को नष्ट कर लोक का रंजन करते हैं। भागवत-कार राम द्वारा एक बाण से मारीच के वध को शिव के गण वीरभद्र द्वारा दक्ष प्रजापति के वध की उपमा देते हैं। युद्ध मे राम का रावण के प्रति किया गया सम्बोधन बड़ा ही सारगर्भित है। 'अपराजेय काल पुरुष जैसे किसी भी पापात्मा को क्षमा नहीं करता, वैसे ही राम पर-स्त्री-हारक रावण को उसके निन्दित कर्म का फल देते हैं'—

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः,
कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत्ते।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य
यच्छामि काल इव कर्तुरलंघ्यवीर्यः॥

—श्रीमद्भागवत ९-१०-२२.

लोकपीडक रावण का राम द्वारा वध सर्वाधिक लोकरंजक कार्य है। राम के चरित का गान लोक और देवता सभी आनन्दित होकर करते हैं—क्योंकि राम के चरित मे उन्हे अपने ही क्रिया-कलापो का सा सहज अनुभव होता है। (देखिए—'उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा' ९-१०-३४) अपने प्रिय स्वामी को चौदह वर्ष की लम्बी अवधि के बाद देखकर उत्तर कोशलदेशवासी लोग अपने उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) हिलाते और फुल बरसाते हुए नाचने लगते हैं—

धुन्वन्त उत्तरासंगान्पतिं वीक्ष्य चिरागतम्।
उत्तराः कोशला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा॥ ९-१०-४४.

विजयी राम का उत्सव-पूर्ण अयोध्या में प्रवेश लोक के लिए अनिर्वचनीय आनन्द का हेतु है। राज्य सिंहासन पर विधिवत् अभिषिक्त होकर न्याय पूर्वक

शासन एवं समस्त प्राणियों को सुख-प्रदान करना राम के चरित का मुख्य अंग है। 'राम के राजा होने पर त्रेतायुग भी सत्ययुग के समान हो गया था।'

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥ ९.१०.५३

'सारे वन, पर्वत, नदियाँ, आदि जनता को इच्छित फल देने वाले हो गये थे।' रामराज्य मे आधि (मानसिक दुःख), व्याधि (शारीरिक रोग), शोक, भय आदि का अभाव था। इसका कारण राम का पवित्र आचरण था, जिसमें राग-द्वेषादि मलों का सर्वथा अभाव था।' इस प्रकार श्रीमद्भागवत मे निरूपित संक्षिप्त रामचरित बड़ा ही लोकरंजक है। शास्त्रीय दृष्टि से यह 'ईशानुकथा' है, जिसका फल ही लोक-संग्रह है। राम सर्वथा सर्वदा ध्येय हैं—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्॥
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
—श्रीमद्भागवत. ११.५.३३

अर्थात् 'हे शरणागतरक्षक राम! हे महापुरुष! हम सदा आपके उन चरणकमलो की वन्दना करते हैं, जो ध्यान करने योग्य हैं। जो मायाकृत पराभव (मोह) का हरण करने वाले हैं। जो वाञ्छित फलदायक हैं। जो तीर्थस्वरूप हैं। जो शिव और ब्रह्मा से वन्दित हैं। जो शरणदायक हैं। जो सेवकों का दुःख दूर करने वाले हैं और जो संसार समुद्र के लिए जलयान के समान हैं।

•

श्री स्वामी हरिदास जी की रस-रीति में लोक-मंगल की अवधारणा

'अनन्य नृपति रसिक चक्र चूडामणि का यथार्थ और अन्वर्थ विरुद धारण किये, श्री स्वामी हरिदास के व्यक्तित्व एवं उनकी श्यामा-श्याम की नित्य अनन्त विहार रूपा रसोपासना को मैं भारतीय ऋतम्भरा प्रज्ञा का मूर्त रूप और नवनीत मानता हूँ। उनकी रसरीति ब्रजमण्डल की समस्त भक्ति पद्धतियो, प्रेम परिपाटियों, शुद्ध धर्म के सारसर्वस्वका भी सर्वस्व, सुदुर्लभ से भी दुर्लभ तर, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और कठिन से भी कठिनतर है। किन्तु निश्चय ही वह मानव का ऐसा चरम प्राप्तव्य भी है, जिसके लिए कितनी भी कृच्छ्र साधना की जाय, उस महनीय प्राप्तव्य के सामने फल्गु ही रहेगी। यह रसरीति परम-विरक्त, प्राकृत सुख पराङ्मुख, समस्त विश्व के साथ एकात्मता की कथनी और करनी के धनी स्वामी हरिदास के द्वारा ही शक्य और सम्भव थी। आज के अशान्त, फल्गुस्वार्थपरायण और स्थूल भोगवादी मानव के लिए यह कल्पना से परे की वायवी वस्तु है, किन्तु स्वामी हरिदास जी ने उसे अपनी प्रत्यक्ष रहनी से चरितार्थ किया है।

ब्रज की विभूतियों मे स्वामी हरिदास जी का व्यक्तित्व एकदम निराला है, अनूठा और अद्वितीय है। उनकी रसोपासना सबसे विलक्षण और अपूर्व है। लगता है, वह ब्रज की अब तक की समस्त उपासना पद्धतियों की अन्तिम कडी है और उससे आगे की रससाधना को किसी अन्य हरिदास के प्राकट्य की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। किन्तु स्वामी हरिदास जी तो अनन्य हैं, अद्वितीय हैं, यह विश्वास भी अपनी जगह ब्रज में अटल है।

बात वस्तुतः यह है कि स्वामी जी ने विशुद्ध वैदिक रसतत्त्व—'रसो वै सः' को प्रिया प्रियतम के अनादि अनन्त नित्य विहार के रूप मे निःशंक होकर व्याख्यायित कर दिया है। उन्होने मानव की आदि आकांक्षा-उत्कण्ठा, अजरत्व, अमरत्व सौन्दर्य-सुषमा-पिपासा को एक केन्द्र बिन्दु पर घनीभूत

कर दिया है। भारतीय अध्यात्म चिन्तन मे उनकी रस परिकल्पना जो सान्द्रत्व लिये है, वह सर्वथा नवीन है।

काम मानव मन की सहज ऊर्जा है—'कामस्तदग्रे प्रथमं रेत आसीत्।' इस ऊर्जा का विनियोग क्षयिष्णु भी हो सकता है (और अधिकांशतः होता ही है।) और सर्जनात्मक भी। काम और प्रेम अपने विशुद्ध रूप में दो तत्त्व नही हैं। उनका विकृत विनियोग ही उन्हे पृथक् कर देता है। स्वामी हरिदास जी की सबसे बडी देन उनका इस काम या प्रेमतत्त्व के विशुद्ध धर्म स्वरूप या अनाविल ऊर्जस्वित स्वरूप की प्रतिष्ठा करना है। प्रेम के ऐसे उन्नत और उज्ज्वल रूप का साक्षात्कार मनुष्य के लिए अद्यावधि अचिन्त्य और अकल्पनीय है। किन्तु स्वामी हरिदास जी ने उसे जो वाणी दी है, वह समस्त विश्व के दर्शन और साहित्य मे अभूतपूर्व है। उन्होने एक सहज मानवसत्य को—बिहारेच्छा को—जो जीवमात्र के मन मे, 'शृंग' के रूप मे चुभती रहती है, वासना या संस्कार के रूप में सोई रहती है, अपनी एक दम निराली और विशिष्ट प्रतिभा और साधना द्वारा अभूतपूर्व रूप दिया है। ऐसे मनोरम और हृदयावर्जक नित्य विहार की कोई परिकल्पना स्वामी हरिदास जी से पूर्व हमे भक्ति-साहित्य मे नही मिलती। यह नित्य-विहार-दर्शन मानव के चरम पुरुषार्थ मोक्ष को भी केवल गणितानन्द ही मानता है, क्योंकि वह अपने तात्त्विक रूप में अनन्तानन्द रूप है। प्रेम का सार्वजनीन वितरण समस्त लोक-मंगल का मूल है। उसे कोई साधारण भोग-मोक्ष- मीमांसाकार साधक नही कर सकता। उसे तो करुआ-कथरी-कौपीन-मात्र-परिग्रह स्वामी हरिदास जैसा कोई परमविरक्त-किन्तु महान् प्रेमी ही कर सकता है।

लोक-मगल मे स्वामी जी के अवदान को आज की रोटी-कपड़ा कार-कोठी-प्रधान सामाजिक स्थितियों मे पहिचानना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। लोक-कल्याण या लोक-मगल की किसी स्थूल अवधारणा से स्वामी जी के प्रदेय की व्याख्या नही की जा सकती। प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के महत्त्व को वे नहीं जानते थे, ऐसा नहीं है। किन्तु उनकी पूर्ति के उपरान्त जो एक आधारभूत भूख और प्यास मानव-मन मे बनी रहती है, उसकी पूर्ति का प्रयत्न स्वामी जी ने किया है। और यही उनकी लोक-मंगल की अदृश्य, सूक्ष्म किन्तु सर्वव्यापी अवधारणा है। उन्होंने सारे मनोवैज्ञानिक धरातलों का अतिक्रमण कर 'सकलप्रयोजनमौलिभूत'

रस या आनन्द को जन-जन के निमित्त सुलभ करने के लिए—संगीत जैसे सार्वभौम व्यापक माध्यम से अपनी साधना को स्वर देकर अभिव्यक्त किया था। उनकी व्यक्तिगत साधना भी सर्वगत साधना होकर प्रकट हुई। व्यक्तिगत का ऐसा सर्वगत विनियोग इस देश के इतिहास मे स्वामी हरिदास जी जैसी विभूतियों के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है। स्वामी हरिदास जी का देय इतना महनीय है कि उसमे लोकमंगल की साधना एक देश में ही सीमित हो जाती है। 'लोक-मंगल' शब्द तो यहाँ बहुत ओछा रह जाता है। कृत्स्न मनीषियों को बिलकुल भ्रान्ति नही कि स्वामी हरिदास जी का लोक के लिए अवदान 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' है। ऐसे ही कृत्स्नवित् मनीषी थे परम भगवदीय श्री हरिराम जी व्यास जिन्होंने स्वामी जी की प्रशस्ति मे कहा था—'देह विदेह गये जीवत ही बिसरे विव-बिलास।

प्रीतिरीति कीनी सबहिन सों किये न खास-खवास।
सुरपति भूपति कंचन कामिनि जिनके भाये घास॥

तुलसी और राजधर्म

यद्यपि तुलसी के समग्र काव्य का प्रधान प्रतिपाद्य विषय व्यापक दृष्टि से राम-भक्ति ही सिद्ध होता है, तथापि उसके विशाल आयाम में समग्र मानव-जीवन और समाज की अनेक अभीष्ट नीतियों और अनुगमनीय सरणियों का सहज निरूपण हो गया है। इसका कारण तुलसी की समाजोन्मुखी गम्भीर एव व्यापक जीवन-दृष्टि है। इन नीतियों में से कुछ तो रामचरितमानस की विशद वस्तु मे सहज प्रसंग-प्राप्त रूप से निरूपित हुई हैं और कुछ दोहावली, रामाज्ञा प्रश्न, वैराग्यसंदीपिनी जैसी मुक्तक रचनाओ मे स्वतन्त्र विषय के रूप मे वर्णित हैं। उदाहरणार्थ यहाँ हम एक विषय—'राजधर्म' की चर्चा करेंगे जिसका सुन्दर निरूपण तुलसी ने दोहावली मे किया है, और जिसका सार्वजनीन एव सार्वकालिक महत्त्व है। तुलसी की यह राजनीति विषयक चिंतन-पद्धति आज के विश्व की प्रशासन-नीति को भी बहुत कुछ दिशा निर्देशन दे सकती है और आज की परिस्थितियों में तुलसी की प्रासंगिकता को प्रमाणित करती है।

यद्यपि तुलसी ने जिस राज्यव्यवस्था, प्रशासन या शासन-पद्धति का उल्लेख किया है, वह एक सामंतीय, एक राजतन्त्रीय पद्धति है, तथापि मूलतः सत्य और न्याय पर आधारित होने के कारण, वह तत्त्वतः प्रजातान्त्रिक है। वनवास और लंका-विजय करके अयोध्या लौटने पर राम एक प्रशासक के रूप मे जनता को जिस प्रकार सम्बोधित करते हैं, वह अपने आप में विलक्षण रूप से प्रजातान्त्रिक है, और आज भी स्पृहणीय एव आचरणीय है—

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुरु द्विज पुरवासी सब आए।
बैठे गुरु मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भय भंजन।।
सुनहु सकल पुरजन ममबानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी।।
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई।

× × × ×

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।।

रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, १—४३.

यहाँ राम जिस आत्मबल, तटस्थता, निश्छलता और सत्ता-मद-राहित्य से प्रजा को अपनी बात कहने के लिए तैयार करते हैं और अपनी त्रुटि मानने के लिए तैयार रहते हैं, वह आज के विश्व की तथाकथित प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली मे भी कल्पनातीत है। मूल बात तो सत्य निष्ठा है। फिर शासन चाहे एक व्यक्ति के हाथ मे हो या बहुतों के हाथ मे। जनता का हित और सुख ही सुशासन की कसौटी है। तुलसीदास ने रामराज्य की यही परिकल्पना की है। यही पूर्ण वैराज्य (Welfare State) है—

राम-राज राजत सकल, धरम निरत नर नारि।
राग न द्वेष, न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि॥
राम-राज सतोप सुख, घर बन सकल सुपास।
तरु सुर तरु, सुरधनु महि, अभिमत भोगबिलास।
खेती बनि, विद्या, बनिज, सेवा, सिलप, सुकाज॥
तुलसी, सुर तरु सरिस सब, सुफल राम के राज।

रामाज्ञा प्रश्न सर्ग ६, सप्तक ६, सप्तक ३ तथा सर्ग ७, सप्तक ३

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड (दोहा २० से २४) मे भी ऐसे ही समृद्ध-सुखी-स्वराज्य की पूर्णता रामराज्य के रूप मे प्रतिष्ठित की गई है।

किन्तु यह वांछित स्थिति किस प्रकार के प्रशासक के द्वारा लाई जा सकती है उसका स्वरूप तुलसीदास ने बताया है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक॥

(रामच०, अयो० काण्ड दोहा ३१५ तथा दोहावली दो० ५२२,)

अच्छा प्रशासक आपाततः तो अकेला सुख-सुविधा का उपभोग सा करता प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः वह जनता का ही सुख साधन करता है। जैसे एक मुख भोजन द्वारा समस्त शरीर का पोषण करता है। राज्य-प्रशासन जनता से वसूल किये हुए करों से चलता है। कुशल प्रशासन वह है जो कर तो अप्रत्यक्ष रूप से वसूल करता है किन्तु जनता को सुख साधनों के उपभोग का आनन्द प्रत्यक्ष रूप से कराता है। जैसे सूर्य किरणों द्वारा समुद्र से पानी को खींचता हुआ तो दिखाई नहीं देता किन्तु मेघ से जल बरसा कर लोक को आनंदित करता हुआ अवश्य श्रेय प्राप्त करता है।

बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होइ॥
(दोहावली दो० ५०८)

यहाँ तुलसीदास ने अप्रत्यक्ष-कर-प्रणाली की प्रशसा की है जो आज की अर्थ-व्यवस्था में भी श्रेष्ठ मानी जाती है।

किंतु प्रशासन द्वारा प्रजा या जनता से कब कर-ग्रहण करना चाहिए इसकी व्यवस्था देते हुए तुलसीदास कहते हैं —

पाके, पकये, बिटपदल, उत्तम मध्यम नीच।
फल नर लहै नरेस त्यों, करि विचार मन बीच॥
(दोहा ५१०)

पके हुए फलो को तोडना उत्तम, कच्चे फलो को तोड़ना मध्यम, और पेड के पत्तों को ही नोच डालना अधम लाभ है। इसी प्रकार प्रशासक द्वारा कर-वसूली का सर्वोत्तम रूप और समय फसल तैयार होने पर कर-ग्रहण करना, मध्यम रूप फसल तैयार हुए बिना कर-ग्रहण करना और अधम रूप बिना विचार के चाहे जिस समय कर लगाकर उसे वसूल कर लेना है।

जनता से उचित कर लेना और उसे उसी के कल्याण कार्यों मे लगाना राजा या प्रशासक का कर्तव्य है, किन्तु अनुचित कर लगाकर प्रजा का उत्पीडन करना तो घोर अपराध है जैसे केवल फल न तोड़कर पेड़ काट कर फल तोडना। भले लोगों का यही मत है —

रीझि खीझि गुरु देत सिख, सखा सुसाहिब साधु।
तोरि खाय फल होइ भल, तरु काटे अपराधु॥
(दोहावली-दोहा ५११)

न्यायपूर्वक शासन करने से ही प्रजा को सुख-सन्तोष और शासक को यशोधन की प्राप्ति होती है। केवल दण्ड और कर से जनता को पीडित करने वाले शासक के हाथ कुछ नही लगता। यह पृथ्वी तो वह गौ है जो ईमानदार प्रशासक की सच्चरित्रता रूपी घास को चरती है। प्रजा या जनता रूपी

बछड़े द्वारा पेन्हाई जाने पर समृद्धि रूपी दूध उतारती है। यदि केवल बल-पूर्वक गाय की टाँगें बाँधकर ही दुहा जायेगा तो हाथ कुछ नहीं लगेगा।

धरनि-धेनु चारित-चरत, प्रजा-सुबच्छ पेन्हाइ।
हाथ कछू नहिं लागि है, किये गोड़ की गाइ॥

(दोहावली, दोहा ५१२)

किन्तु सत्य और न्याय-परायण प्रशासक उतने सुलभ नहीं। जनता के सौभाग्य से वैसे प्रशासक इस युग मे कभी-कभी ही उत्पन्न होते हैं। आदर्श प्रशासक माली, सूर्य और कृषक की भाँति होता है। माली कुम्हलाए हुए पौधों को सींचता है, बढ़ी हुई अवांछित शाखा को छाँट देता हैं, झुके हुए पौधों को टेक देता है, और तब उनके फूलो को चुनता है। सूर्य पहले समुद्र से किरणों द्वारा जल को खींचता है, फिर मेघ के रूप में उसे खेतो पर बरसाता है। किसान खेत जोतता है, उसमे खाद डालता है बीज बोता है, सींच-सींच कर खेती की रक्षा करता है, तब यथा समय फसल काटता है। आदर्श प्रशासक भी जनता के कल्याण के लिए यथोचित कर्तव्य करता है—

माली, भानु, किसान सम, नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे, कबहुँ-कबहुँ कलि काल॥

(दोहावली, दोहा ५०७)

तुलसी द्वारा राजधर्म की एक मार्मिक एवं सूक्ष्म अनुभूति का उल्लेख करके हम इस चर्चा का उपसंहार करेंगे। तुलसी को अनुभव हुआ होगा कि प्रधान प्रशासक की अपेक्षा उसके अधीनस्थ कर्मचारी ही कहीं अधिक दुःख-दायी होते हैं। भ्रष्ट जिलाधिकारी की अपेक्षा एक किसान के लिए भ्रष्ट पटवारी ही अधिक उत्पीडक और शोषक सिद्ध होता है। क्योंकि उसी से एक सामान्य कृषक का नित्य सम्बन्ध रहता है। अतः सजग प्रशासनाध्यक्ष को ऊँचे से लेकर नीचे तक स्वयं ही जनता के हित की रक्षा करनी चाहिए। तुलसीदास ने एक उपयुक्त उदाहरण से इस तथ्य को हृदयंगम कराया है—

प्रभु तें प्रभु-गन दुखद लखि, प्रजहिं सँभारै राउ।
कर तें होत कृपान को, कठिन घोर घन घाउ॥

(दोहावली, दोहा ५०१)

'स्वामी की अपेक्षा उसके सेवक ही (जन-साधारण को) कही अधिक दुःख देते है। इसलिए (प्रजावत्सल) शासक को स्वय ही अपनी प्रजा की सार सँभाल रखनी चाहिए। क्योंकि हाथ से किये हुए आघात की अपेक्षा कृपाण का आघात कही अधिक गहरा होता है।' मध्य युग मे राजधर्म का निरूपण करती हुई तुलसी की अनुभव पूत वाणी की अनुगूँज हमें अपने इस युग के राजनीतिक जीवन में भी सुनाई देती है। तुलसी जैसे कालजयी 'कविमनीषी' के लिए यह नैसर्गिक ही है।

स्वामी हरिदास जी के उपास्य श्यामा-कुंजबिहारी

अध्यात्म की उच्चतम और सर्वथा विलक्षण भावभूमि पर अधिष्ठित परा-भक्ति-सिद्ध-पुरुषों में रसिक अनन्य नृपतिचक्रचूडामणि स्वामी श्रीहरिदास जी (वि० सं० १५३५-१६३०) का स्थान अन्यतम है। उनकी रसोपासना और उनके उपास्य 'श्यामा-कुंजबिहारी' के तात्त्विक स्वरूप को समझ सकना प्राकृत मानव तो क्या अध्यात्मप्रवण सूरिजन के लिए भी कठिन है। उसे हृदयंगम करने के लिए तो 'अनेक जन्म संसिद्ध-परागति-प्राप्त कोई भागवतोत्तम ही समर्थ होता है। इस स्थिति को स्वयं वेद्यतत्त्वपुरुष श्री कृष्ण ने ही स्पष्ट किया है— 'हजारों मनुष्यों में से कोई ही परम तत्त्व की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है। प्रयत्न से सिद्ध हुए उन पुरुषों में भी कोई ही मुझे तत्त्वतः जान पाता है'।[1] स्वामी हरिदास जी ऐसे ही सिद्ध-पुरुष थे जिन्होंने उस परम तत्त्व को श्यामा-कुंजबिहारी की 'सहज-जोरी' के रूप में ललिता सखी के परम विशिष्ट भाव संस्कार के माध्यम से पहचाना था। हरिदास जी की वक्रिम (बाँकी) रसरीति इसीलिए अतिशय दुरूह है कि उसमें आपाततः प्राकृताभास उत्तान-शृंगार, लौकिकाभास कामकेलि की अनन्त भूमिकाएँ मार्ग में पड़ती हैं, जिनमें प्राकृत-मानव की बुद्धि पद-पद पर प्रतिहत होती चलती है। वह उसे तत्त्वतः नहीं समझ पाती। इसलिए श्रीभगवत रसिक जी ने उसे समझने के लिए एक विशिष्ट उदात्त रसिकता को अनिवार्य बताया है।[2]

---

१. द्रष्टव्य—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ६ श्लोक ४५.
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ गीता ७:३॥

२. भगवतरसिक रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने तत्त्वोपलब्धि के साधनों में 'गानात् परतरं नहि' ('तत्त्व की प्राप्ति में संगीत से अधिक प्रभावी कोई साधन नहीं'।) कहकर जिस अध्यात्म-प्रवण कला-प्रज्ञा के महत्त्व को स्वीकार किया था, स्वामी हरिदास जी उसकी रसात्मकता के मूर्तिमान् निदर्शन थे। निखिल रसामृत-मूर्ति कुंजबिहारी अपनी अभिन्नाह्लादिनी शक्ति राधा और समस्त परिकर के साथ जिस श्रुति "रसो वै सः" के महाभाव रूप महाभाव्य हैं, स्वामी जी यावज्जीवन उसी के अध्येता रहे। स्वामी जी के नित्य-निकुंज-विहार-रत-श्यामा-श्याम, चतुर्व्यूहादि कारण-कारण, वासुदेवकृष्ण, गोपालकृष्ण, व्रजराज-कृष्ण, दुष्ट-दैत्य-निकंदन-कृष्ण, किंबहुना, समस्तोपनिषत्सारकवलीकृतगीता-शास्त्रकृत् भगवान्‌कृष्ण पर्यन्त सभी को दिव्यस्वमाधुर्यमहाभावार्णव के बिन्दु मात्र में निमज्जित करके अधिष्ठित हैं। अपने उपास्य की इस सर्वातिशायिनी स्वरूपोपलब्धि के पीछे स्वामीजी की कितनी बड़ी संस्कार-यात्रा है, यह सहज अनुमेय नहीं। श्रुति, आगम, तन्त्र (शैव और वैष्णव) और उनके रसात्मक उपबृंहण महाभारतादि इतिहास, श्रीमद्‌भागवतादिपुराण, पांचरात्रादि भक्ति-संहिता-साहित्य, गीतगोविंद आदि प्रातिभ-प्रासादिक काव्य-वाङ्मय-सरणि और सर्वोपरि तुच्छीकृतब्रह्माण्डवैभव प्रबलतमवैराग्यप्रवण भारतीय भक्ति धारा, सभी ने तो स्वामी हरिदास जी के प्रियतम 'श्यामा कुंजबिहारी' की स्वरूपोपलब्धि में अपनी अन्तः सलिलावत् भावभूमिका निभाई है। महाशक्तित्व की महाभावत्वपर्यन्त इस सांस्कृतिक-यात्रा के अन्यतम पथिक हैं स्वामी हरिदास जी और उनका चरम गन्तव्य—प्राप्तव्य है श्यामा कुंज बिहारी की अप्राकृत दिव्य नित्य केलि का तत् सुख-सुखीभावभावित, अनवरत, अकुंठ दर्शनानन्द।

स्वामी हरिदासजी के उपास्य श्यामा कुंज बिहारी जिस रसराज शृंगार के एकमात्र शुचितम अधिष्ठान हैं, उस शृंगार के तात्त्विक या मौलिक स्वरूप को समझ लेना—उनके उपास्य के स्वरूप को समझने में सहायक होगा। लौकिक धरातल पर व्यवहार्य रस—व्यापार को निरन्तर उदात्तीकृत करते चलना भारतीय चिन्तन की विशेषता रही है। आनन्दापरपर्याय 'रस' ही जीवात्मा का आस्वाद्य और परमात्मा का स्वरूप है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'।[1] कहकर रस के सर्व-

---

१. भरतनाट्यशास्त्र, अध्याय ६, श्लोक ३२ के अनन्तर गद्यभाग

व्यापी महत्त्व और स्वरूप का ख्यापन किया है। परवर्ती काव्य-शास्त्राचार्यों ने उसे "सकल-प्रयोजन-मौलि-भूत" कहा है, अतः रसचर्वणा मे सहृदय की सहज प्रवृत्ति एक सार्वभौम अनुभव है। भारतीय रस परिगणना मे शृंगार-रस के आद्य-स्थान और आस्वाद्यत्व की सान्द्रता के कारण 'शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः'[1] जैसी उक्तियो से उसका रसराजत्व मानव मनोविज्ञान की दृष्टि से भी समीचीन लगता है। भारतीय काव्यशास्त्र के सारसर्वस्व भरत नाट्यशास्त्र ने शृंगार मे उज्ज्वलता और शुचिता को स्वरूपभूत लक्षण बताया है। श्री स्वामी हरिदास जी के उपास्य-युगल 'श्यामा-कुंजबिहारी' की तात्त्विक स्वरूपोपलब्धि में यह महत्त्वपूर्ण संकेत है जो उस शृंगार को प्राकृत इन्द्रिय-संनिकर्षजन्य सुख से भिन्न अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय बना देता है। भरत-मुनि कहते हैं कि 'शृंगाररस 'रति' स्थायि भाव से उत्पन्न (या निष्पन्न) उज्ज्वल वेश वाला होता है। इस लोक मे जो कुछ पवित्र, मेध्य (प्रत्यग्र, ऊर्जस्वी) उज्ज्वल अथवा दर्शनीय है, उसकी उपमा शृंगार से दी जाती है। जो उज्ज्वल वेश धारी होता है 'वह शृंगारवान् है,' ऐसा कहा जाता है'।[2] नाट्यशास्त्रोक्त शृंगार रस का यह स्वरूप पढ़कर ऐसा लगता है मानो स्वामी हरिदास जी उसे अपने परमाराध्य शुचि, मेध्य, उज्ज्वल और दर्शनीयवेश कुंजबिहारी पर ही घटित कर रहे हैं, जिसकी रस-रूप-निष्पन्नता, 'रति'-स्थायिभाव स्वरूपा 'श्यामा' से ही है। यह रति स्थायिभाव ही अपनी चरमा-नन्दाह्लादावस्था मे 'श्यामा', 'राधा' या 'महाभाव' है। इसी से श्याम वर्ण शृंगार रस की निष्पत्ति होती है।[3] 'भाव' से ही रस की निष्पत्ति बताई गई है।

---

१. शृंगारप्रकाश, भोज।

२. तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः।
यथा, यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोप-मीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृंगारवानित्युच्यते।
(भरत, नाट्य-शास्त्र, अध्याय ६, श्लो० ५६ के अनन्तर गद्यभाग)

३. श्यामो भवति शृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः। (वही, श्लो० ४३)

'रस' से भाव की निष्पत्ति नहीं'।[1] भाव के इस प्राधान्य का निदर्शन हमें गोस्वामि श्री हितहरिवंश जी के राधावल्लभीय सम्प्रदाय मे राधा के प्राधान्य के रूप मे मिलता भी है। स्वामी श्री हरिदास जी की रति स्थायिभावरूपा, महाभावस्वरूपा 'श्यामा' तो मानो श्याम—कुंजबिहारी रूप शृंगार-रस की आविष्कर्त्री ही है जो भरत मुनि के प्राचीन परम प्रतिष्ठित रससिद्धान्त के भी अनुकूल सिद्ध होती है।

सौन्दर्य मे तन्मयीकरण की सहज सामर्थ्य होती है। सौन्दर्य के द्रष्टा और आस्वादक में सौन्दर्य-निधान के साथ तन्मयीभवन की स्थिति उसकी चरम परिणति है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय मे 'सुन्दर' या 'सौन्दर्य' जैसे स्वपद कथन द्वारा सौन्दर्य का निरूपण नहीं है, तथापि 'इदं श्रेष्ठ ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद् धनजिदुच्यते बृहत्। विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम्'।[2] 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' जैसी उक्तियों से पुरुष-सौन्दर्य का ध्वनन और 'उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः। आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभग व्युच्छन्ती दिविष्टिषु।[3] आदि में नारी-सौन्दर्य का अतिशय मृदुभाव से सांकेतिक निरूपण भारतीय वाङ्मय मे अत्यन्त प्राचीन वैदिक काल से लेकर आज तक चला आया है। सौन्दर्य की चरम परिणति पूरे भारतीय वैष्णव वाङ्मय में राधा और कृष्ण के अंगप्रत्यंगगत सौष्ठव मे समाहृत, सन्निविष्ट और पुंजीभूत है। इस तथ्य को किसी भी भारतीय भाषा के वैष्णव साहित्य का सामान्य अध्येता भी जानता है। कृष्णचरित के प्रौढतम आकर और उपजीव्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में कृष्ण और कृष्णप्राणा गोपियों के लोकोत्तर सौभग का

---

१. अत्राह किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति। उच्यते, केषांचिन्मतं परस्परसंबधादेषामभिनिष्पत्तिरिति। तन्न। कस्मात्। दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिवृत्तिरिति। (भरत नाट्यशास्त्र, अ० ६ श्लो० ३४ के अनन्तर गद्य-भाग)

२. ऋग्वेद संहिता १०.१७०.३.

३. ऋग्वेद संहिता १०.४८.६.

प्रचुर निरूपण[1] परवर्ती समस्त कृष्ण-साहित्य मे सौन्दर्य परिकल्पना का मानक रहा है। यद्यपि परवर्ती कृष्ण साहित्य में व्यापक और गम्भीर रूप में चित्रित सौन्दर्य-सीमा, कृष्णैकप्राणा राधा का श्रीमद्भागवत मे स्पष्ट उल्लेख नही और "अनयाराधितो नून भगवान् हरिरीश्वरः"[2] श्लोक मे 'राधितः' या 'आराधितः' पद से उसका सकेत ग्रहण किया गया है, तथापि 'यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः।'[3] मे परम विशिष्टा किसी गोपी के साथ कृष्ण की एकान्त रहस्य-केलि का उल्लेख वृन्दावन के सभी मधुर रसोपासक आचार्यों और भक्तो का उदात्त आध्यात्मिक प्रेरणा स्रोत है। श्री स्वामी हरिदास जी भी इसके अपवाद नही। स्कन्दपुराण में तो स्पष्ट ही राधा कृष्ण के नित्य बिहार तथा उनकी सखी सहचरियों और किंकरियो द्वारा तत्सुखसुखीभावमयी परिचर्या का उल्लेख है[4]। इस प्रकार श्रीमद्भागवत के बीज और पुराणान्तर मे राधा-माधव की

---

१. द्रष्टव्य—(क) 'त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपम्' आदि, श्रीमद्भाग० १०.२९.४

(ख) 'कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलम्' आदि, वही. १०.२१.१२

(ग) 'गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्यः' आदि, वही १०.५.११

अन्यत्र भी—नवनववरमाधुरीधुरीणाः
प्रणयतरंगकरंबितांतरंगाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः
प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः॥

श्रीहरिभ. सि. में उद्धृत।

२. श्रीमद्भागवत १०,३०,२८.

३. इसी श्लोक का उत्तरार्ध।

४. आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।
तस्या दास्यप्रभावेण विरहोऽस्मान्न संस्पृशेत्॥
तस्या एवांशविस्तारा: सर्वा: श्रीकृष्णनायिका:।
नित्यसंभोग एवास्ति तस्याः साम्मुख्ययोगतः॥

—स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड, भागवतमाहात्म्य २. ११. ११.

ग्लौकिक एकान्त रहस्य केलि, जिसका चरम विकास जयदेव के गीतगोविन्द और विद्यापति की पदावली मे दिखाई देता है, परम भावुक और विरक्त, सगीतोपादान सम्पन्न श्री स्वामी हरिदास जी के 'केलिमाल' में 'गौर-स्याम घन-दामिनी' जैसी 'सहज जोरी' के नित्य विहार रूप में चित्रित है। निश्चय ही इस अनादि युगल के अनिर्वचनीय रूप सौन्दर्य और नित्य-रहस्य-विहार के चित्रण मे श्री हरिदास जो की मौलिक प्रतिभा एवं अभिव्यक्ति की अद्वितीयता भी विद्यमान है।

श्यामा कुंजविहारी के दिव्य, परमोज्ज्वल, नित्य-विहार रस मे अहर्निश भावसमाधिस्थ स्वामी हरिदास जी बहुत कम ही बाह्य संसार में विचरते थे। फलतः अपनी वैखरी बाणी का प्रयोग उन्होने स्वल्पतर ही किया है। उन जैसी विलक्षण एकान्त रसोपासना सरणि के पथिक के लिए न्यूनातिन्यून वाग्व्यापार ही स्वाभाविक भी था, जैसा कि हम राधाकृष्ण-मिलित-तनु प्रेमावतार महाप्रभु श्री चैतन्यदेव के जीवन मे भी देखते है। किसी अतल सागर में आपाद-मस्तक-निमग्न व्यक्ति के लिए बोलना सम्भव ही कहाँ है! वाग्व्यापार तो उतरा कर 'तटस्थ' होने पर ही शक्य होता है। अतः ब्रज की इन दोनों ही रसोपासक विभूतियों की वाङ्मयी रचना मात्रा की दृष्टि से स्वल्पतर है। इस प्रकार हम देखते है कि स्वामी हरिदास जी ने केवल सिद्धान्त के अष्टादश पद और दशाधिकशत ध्रुवपदमुक्तामणिमय महार्घ 'केलिमाल' ही अपने अराध्य युगल श्यामा कुंजबिहारी को अर्पित किये हैं। उन्होंने सिद्धान्त रूप मे कह भी दिया है— "और मिथ्या प्रपंच काहे को भाषिये सो तौ है हारिन"[1]

'केलिमाल' तो स्वामी हरिदास जी के स्वामी श्यामा कुंजबिहारी की वाङ्मयी मूर्ति और उनके नित्य विहार का निज-महल ही है। केलिमाल के भावसान्द्र अक्षर-अक्षर में स्वामी जी के उपास्य–युगल की अनिर्वचनीय, दिव्य-रूप-माधुरी आत्यन्तिक आह्लादमयी दिव्य, नित्य-केलि की अनादि अनन्तता, उनके मिथः सर्वस्वसमर्पणमय प्रेम की अनिर्वचनीयता, उनकी त्रैलोक्य मनोहारिणी संगीतमयता किंबहुना, कालातीत सदा सर्वदा प्रत्यग्र कैशोर्य की झांकी मिलती है। श्यामा कुंजबिहारी की क्षण-क्षण नावीन्यमयी

---

(१) अष्टादश सिद्धान्त के पद सं० २.

रमणीयता, मिथः दर्शनौत्सुक्य और नित्य रूपरसपान के अनन्तर चिर-अतृप्ति—सभी कुछ विलक्षण है—

> वे उनके वे उनके प्रतिबिंबन देखत रहत परस्पर भोई।
> जैसे नीके आज बने, ऐसे कबहूँ न बने,
> आरसी सब झूठी परीं कैसी और कोई॥
> श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी,
> रीझि परस्पर प्रीति नोई[१]॥

केलिमाल के विलक्षण भाव-जगत् में नित्य-विहार-रत श्यामा कुंज-बिहारी का जो प्रथम परिचय हमे ग्रन्थारंभ मे उनके दिक्कालाद्यनवच्छिन्न दिव्य सौन्दर्य मे मिलता है, वही उनके स्वरूप के तात्त्विक अभिज्ञान के लिए उपसंहार मे भी ध्यातव्य है—

> माईरी सहज जोरी प्रगट भई।
> जो रंग की गौर-स्याम घन दामिनी जैसें॥
> प्रथम हूँ हुती, अब हूँ, आगे हूँ रहि है,
> न टरि है तैसे॥
> अंग अग की उजराई-सुघराई।
> चतुराई-सुन्दरता ऐसें॥
> श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी सम बैस वैसे॥[२]

---

(१) केलिमाल पद सं० १३.
(२) केलिमाल पद सं० १

श्री चैतन्यमत्त में मधुरभक्ति रस

श्री राधा-कृष्ण-मिलित तनु, परमप्रेमावतार श्री चैतन्यमहाप्रभु ने महाभावाधिरूढ होकर मधुरा भक्ति को आश्चर्य कोटि तक पहुँचा दिया था। उनके समसामयिक उनके परम प्रेमास्पद अनुयायियों मे श्री गोस्वामित्रय—श्रील सनातन, रूप एवं जीव गोस्वामी जहाँ भक्ति क्षेत्र मे श्री चैतन्य जैसा अप्रतिम आदर्श लेकर चले है, वहाँ वैदुष्य-वैचक्षण्य मे भी ये तीनों महानुभाव भारतवर्ष की महीयसी विभूतियो मे अग्रगण्य है। तीसरी शती के आचार्य भरतमुनि से लेकर सत्तरहवी शती के पंडितराज जगन्नाथ तक संस्कृत साहित्य मे रस-विवेचन की जो अखण्ड-सुदीर्घ-परम्परा रही है, उसे सोलहवी शती के इन तीन भक्ति-आचार्यो ने अपनी कृष्णानुरागमयी अलौकिक और विशेष दृष्टि से एक सर्वथा नवीन और मौलिक रूप दिया है। अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी विलक्षण प्रतिभा से लौकिक काव्य-रसो को इन परम भागवत आचार्यों ने एक नितान्त अलौकिक, आध्यात्मिक और दिव्य रूप में उपस्थापित किया। इन आचार्यो की भारतवर्ष को यह देन अतुलनीय और विस्मयकारिणी है। संस्कृत साहित्य ही नही, समूचे विश्व साहित्य मे इस प्रकार काव्य रस और उसके उपादानों का सर्वथा नवीन रूप से उपस्थापन दुर्लभ है। इस प्रकार की प्रतिभा का निदर्शन अप्राप्य है। इस दृष्टि से हरिभक्तिरसामृतसिंधु एवं 'उज्ज्वलनीलमणि' जैसे ग्रन्थ-रत्नो के स्रष्टा श्री रूप गोस्वामी (स्थितिकाल, विक्रमीय सं० १५९०) भारत की अन्यतम विभूति है।

रसोपासना की सिद्धि के लिए श्री रूप गोस्वामी ने पहले 'श्रीहरिभक्ति रसामृतसिन्धु' की और तदनन्तर मधुर रसोपासना के विशिष्ट आस्वादन के लिए अपने अद्वितीय ग्रंथ रत्न 'उज्ज्वलनीलमणि' की रचना की।

श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु को एक सिन्धु या सरोवर का सांगरूपक देते हुए चार तट रूप से क्रमश. उसमें पूर्व और दक्षिण भाग तथा पश्चिम और उत्तर विभागों और इन भाग-विभागों में लहरियों की कल्पना की गई है।

पूर्व भाग मे भक्ति के विभिन्न भेदों का निरूपण है। दक्षिण भाग का नाम 'भक्तिरस-रस-सामान्य-निरूपक' है। इन सामान्य तत्वों में परम्परागत विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी एवं स्थायीभावों का भक्ति रस की दृष्टि से सोदाहरण बहुत ही विद्वत्तापूर्ण निरूपण है। पश्चिम विभाग मे शान्त, प्रीत, प्रेयः, वत्सल और मधुर—इन पाँच भक्ति रसों का सोदाहरण विवेचन है। अन्तिम उत्तर-विभाग मे हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स—इन सात भक्तिरसों की सोदाहरण मीमासा है। इसी विभाग मे रसों की मैत्री-वैर-स्थिति तथा रसाभास लहरी के अन्तर्गत उपरस, अनुरस, अपरस, विभाव-वैरूप्य और अनुभाव-वैरूप्य का निरूपण है। भक्तिरस का इतना विशद निरूपण करने के पश्चात् भी परम भागवत रूप गोस्वामी सत्तरह पुराणों और महाभारत के प्रणेता व्यास के समान अतृप्त ही रहे। जिस प्रकार भगवान् व्यास को भगवन्माहात्म्यप्रधान श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रणयन के उपरान्त ही परम सन्तोष और निर्वृति का अनुभव हुआ, ठीक उसी प्रकार श्री रूप गोस्वामी ने भक्तिरस मे सम्राट् पद के भाजन 'मधुररस' का अत्यन्त विस्तृत शास्त्रीय विवेचन करने वाले अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक अतिशय उत्कृष्ट ग्रन्थ-रत्न का आविष्कार करके ही चरम मनस्तुष्टि और अलौकिक आनन्द का अनुभव किया।

ग्रंथ का उपक्रम करते हुए 'उज्ज्वलनीलमणि' के प्रणयन का उद्देश्य श्री रूप गोस्वामी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥

(उज्ज्वलनीलमणि, प्रथमप्रकरण, का. २)

अर्थात् 'गोपनीय होने के कारण पहले (भक्तिरसामृतसिन्धु मे) शान्तादि मुख्यरसो के साथ जिस 'मधुर रस' का निरूपण संक्षेप में किया गया था, उस भक्तिरस के सम्राट् स्वरूप 'मधुर रस' का अब (इस उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रथ मे) पृथक रूप से विस्तार पूर्वक कथन किया जाता है।" यह मधुर रस नीलमणि के समान उज्ज्वल है। अतः इसे 'उज्ज्वल-रस' भी कहा गया है। इस मधुर रस मे परमोज्ज्वल गौरवर्णा आह्लादिनी महादिव्य शक्ति वार्षभानवी राधा और नीलमणि के समान परम भास्वर श्यामल वर्ण नन्दनन्दन कृष्ण के

अभिधानों का संकेत और उनकी दिव्य प्रेमलीला का महासागर तरंगित है। यह रस परम रहस्यमय है। उज्ज्वलनीलमणि के मनीषी टीकाकारों—श्री जीव गोस्वामी एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती प्रभृति महानुभावों ने कहा है कि यह मधुर रस अपने सम्पूर्ण वैभवसामर्थ्य के साथ भक्तिरसामृतसिन्धु में अलक्षित है। वहाँ उसका मर्म और स्वरूप पूरे विस्तार से न देकर ग्रथकार ने केवल उसका दिङ्‌मात्र प्रदर्शन किया था। किन्तु उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ मे श्री रूप गोस्वामी ने अपने परम अन्तरंग अतिप्रिय सुहृद् भक्तवृन्द के आनन्दास्वाद के लिए मानो अपने हृदय-सम्पुट से उज्ज्वलनीलमणि (रत्न) के समान निकालकर दिखाते हुए इस मधुर रस का अतिशय विस्तार पूर्वक स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया है। यह उज्ज्वलमधुररस स्वभाव से ही अत्यन्त विस्तृत अंगो वाला है। यह निवृत्तजनो के लिए दुरूह और अनुपयुक्त है। निवृत्तजन वे हैं जो इस अलौकिक भगवदीय मधुर रस को लौकिक या प्राकृत शृंगार रस के समान समझते हुए मर्यादावादिता के कारण इससे बचते हैं। वे इस मधुररस' के आस्वादन के पात्र या अधिकारी नही हैं। उनके लिए तो शान्त, दास्य वात्सल्यादि रस ही अलम् हैं। इन रसों की ओर तो वे पूज्य बुद्धि से उन्मुख रहते है, किन्तु मधुर या उज्ज्वल रसों को अपनी स्थूल दृष्टि से काम-व्यापार के रूप में देखने की मौलिक त्रुटि कर सकते हैं। ऐसे परलोकवादी जनों के लिए यह रस दुरूह है। यह उनकी समझ से परे है। वे इस परमोज्ज्वल नीलमणि (अति महार्घ रत्न) का मूल्य नहीं आँक सकते। वे इसे साधारण काँच समझकर इसका अनादर कर सकते हैं। अतः उन से तो यह परमोज्ज्वल रस पूर्णतया गुप्त ही रखना चाहिए। यह तो केवल उन अलौकिक आनन्द के अधिकारी सच्चे भगवद्भक्तों की पूँजी है जो राधा कृष्ण और उन की आत्मस्वरूपा गोपाङ्गनाओं के रति-रंग को श्री जयदेव और महाप्रभुचैतन्य की भाँति सर्वातिशायी आध्यात्मिक अनुभव के नेत्रों से देखने की सामर्थ्य रखते हैं।

श्री रूप गोस्वामी ने इस मधुर-रस की परिभाषा या लक्षण अपने उक्त दोनों ग्रन्थों में क्रमशः इस प्रकार दिये हैं—

क—आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥

(श्री हरिभक्ति० पश्चिमविभाग- लहरी-५, करिका १)

ख—वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरारतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥
(उज्ज्वलनील०, प्रथम प्रकरण, कारिका ३)

क—अर्थात् 'सतोगुण सम्पन्न सहृदयों के अन्तःकरण में स्थित मधुरा रति नामक स्थायी भाव ही मनोऽनुकूल आलंबन—उद्दीपन विभावों, स्मितादि अनुभावों और निर्वेदादि संचारियों द्वारा स्वाद्यावस्था को प्राप्त होकर 'मधुर' नामक रस बन जाता है।'

ख—अर्थात् 'पूर्वोक्त कारण कार्य सहकारी रूप स्वोचित विभाव, अनुभाव, सात्त्विकों और संचारी भावों द्वारा स्वाद्यता की स्थिति तक पहुँचाई गई मधुरा-रति को ही मनीषियों ने मधुर रस कहा है।'

मधुर रस के विभाव—रति के आस्वादन के हेतुओं को विभाव कहते है। विभाव दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन और २. उद्दीपन। आलम्बन विभाव के दो पक्ष हैं—१ विषय और २. आश्रय। सामान्य भक्तिरस में कृष्ण और कृष्ण-भक्तजन रति के आलम्बन हैं। कृष्ण विषयालम्बन और भक्तजन आश्रयालम्बन हैं, जैसा कि कहा गया है—

कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः।
रत्यादेर्विषयत्वेन तथाधारतयाऽपि च॥
(भक्तिरसामृत० दक्षिणविभाग, लहरी १ कारिका १६)

मधुररस में कृष्ण और उनकी वल्लभाएँ—व्रजांगनाएँ मधुर रति के आलम्बन हैं। श्रीकृष्ण विषयालम्बन और व्रजागनाएँ आश्रयालम्बन। आस्वादन की परिवर्तित स्थिति में यह क्रम उलट जाता है। कृष्ण आश्रयालम्बन और व्रजांगनाएँ विषयालम्बन हो जाती हैं। उज्ज्वलनीलमणि में कहा गया है—

अस्मिन्नालम्बना प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।
(उज्ज्वलनील० प्रकरण १, कारिका ४)

कृष्ण ऐसे विषयालम्बन हैं जो अनेक कोटि कन्दर्पों के सौन्दर्य-दर्प को अपने एक ही चरण की द्युति से खर्व कर सकते हैं। वे नवजलधरकान्ति हैं।

मूर्तिमान् शृंगार और दिव्यलीलानिधि हैं। किशोरी व्रजागनाएँ ऐसी परम अद्भुत आश्रयालम्बन हैं जो नवनव माधुरी धारण करने वालों में अग्रगण्या हैं। प्रणय की तरंगों से नित्य युक्त अन्तःकरण वाली होने के कारण वन्दनीया हैं—

> नवनववरमाधुरीधुरीणाः,
> प्रणयतरंगकरम्बितांतरंगाः।
> निजरमणतया हरिं भजन्तीः,
> प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः॥

कृष्ण की कोटिकोटि वल्लभाओं में आठ, उनमें भी राधा और चन्द्रावली दो, और इन दोनों में से भी राधा अधिकतरा है—

> प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी।
> (हरिभक्तिरसामृत० पश्चिमविभाग, लहरी ५ का० ४)

अर्थात् कृष्ण की इन प्रेयसियों में वृषभानुनन्दिनी राधा सर्वश्रेष्ठा है। मधुररस के आकर ग्रंथ उज्ज्वलनीलमणि में हरिवल्लभा और राधा प्रकरण में इस विषय को बहुत विस्तार से निरूपित किया गया है। यहाँ केवल कुछ महत्त्वपूर्ण कारिकाएँ उद्धृत की जा रही हैं—

> तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
> यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्यामृगीदृशः॥
> तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
> महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥
> ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी।
> तत्सारभावरूपेयमिति तंत्रे प्रतिष्ठिता॥
> (उज्ज्वलनील० राधाप्रकरण, कारिका १, ३, ६)

अर्थात् 'कृष्ण की आठ परम सौभाग्यधौरेया नित्य प्रियाओं में राधा और चन्द्रवली सब प्रकार से श्रेष्ठ हैं, जिनके यूथों में करोड़ों मृगाक्षियाँ हैं। चन्द्रावली और राधा में से भी राधा सब प्रकार से अधिक श्रेष्ठ है। यह महाभावस्वरूपा, गुणों में अति श्रेष्ठ, ह्लादिनी महाशक्ति, किंबहुना, समस्त शक्तियों से भी अधिक शक्तिशालिनी' है। बृहद्गौतमीय आदि तन्त्रों में

व्याख्यात शक्ति के सारभाव 'मादन' की पराकाष्ठा, महाभाव रूपा यही राधा है।

मधुररस के उद्दीपन विभावों में कृष्ण और उनकी प्रियाओं के परस्पर विषयाश्रय भाव से गुण, नाम, चरित, मण्डन, चन्द्रिका, मेघ, विद्युत्, वसन्त, पवन, खग, मृग, गोसमूह, वंशीनाद आदि हैं।

अनुभावों मे परस्पर कटाक्षपात, स्मित, भाव आदि तीन अंगज, शोभा आदि सात अयत्नज तथा लीला आदि दस स्वभावज अनुभाव हैं।

मधुर भक्तिरस में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभग, वेपथु (कम्प) वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—सभी आठ सात्त्विकों का समावेश है।

मधुर रस में तैंतीस सचारियों मे से आलस्य और औग्र्य (उग्रता) के अतिरिक्त शेष सभी इकतीस सचारियों का स्थान है। इस भक्ति रस में आलस्य का स्थान इसलिए नही है कि शक्ति होते हुए भी क्रिया से विमुखता सम्भव नही, और उग्रता का स्थान इसलिए नही कि इससे विषयालम्बन के सुख के विपरीत क्रूर आचरण होने की सम्भावना रहती है।

जनसंख्या-शिक्षा के सन्दर्भ में साहित्य की भूमिका

आज हमारा देश बाहरी और भीतरी जितने संकटों और जितनी विकट समस्याओं से घिरा हुआ है, उतना संकटग्रस्त और समस्या-ग्रस्त वह शायद पहले कभी नही रहा। कालचक्र की तेजगति से इन संकटों की सख्या और प्रकारो में नित-नई वृद्धि हो रही है। रोज-रोज कोई न कोई ऐसे नये-नये संकट और नई-नई समस्याएँ आकर खडी हो रही हैं, जिनकी हमने सपने मे भी कल्पना नही की थी। जब तक हम किसी पुरानी समस्या के हल या संकट के निवारण की आशा संजो पाते हैं, तब तक एक बिल्कुल अतर्कित, बिल्कुल नई समस्या आकर हमें तोड़ना शुरू कर देती है। जब तक एक दुःख दूर नहीं होता, तब तक दूसरा सिर पर सवार हो जाता है। जो समस्याएँ यहाँ पहले से ही पैर तोड़ कर बैठी हैं, वे तो बैठी ही हैं। किन्तु मैं यहाँ उन सब की चर्चा करने नहीं आया हूँ। इस देश के एक साधारण नागरिक और साहित्य के एक विद्यार्थी के नाते अपनी जिम्मेदारी का अनुभव करते हुए मैं उस पुरानी और भयानक समस्या की ओर आम आदमी का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जो जन-संख्या-विस्फोट (Population explosion) के रूप में हमारे देश के सामने मुँह बाए खड़ी है और जिसका दुःखद अनुभव हम विशेष रूप से कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, कानपुर, अहमदाबाद, बनारस जैसे महानगरों में प्रतिक्षण करते है। जहाँ देखिए वहाँ भीड़। ट्रेनों, बसों, सिनेमा-घरों, बाजारो, गलीकूचो मे सर्वत्र भारी धक्का-मुक्की। रास्ता चलना, सड़क पार करना, जान पर खेलना हो गया है। आम आदमी को जनमूत्रालय का उपयोग करने के लिए भी क्यू में काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। भीड भरे महानगरों मे वृद्धो महिलाओं और बच्चों को जो कष्ट होते है उनकी चर्चा न करना ही अच्छाहै। उच्च वर्ग के सुविधा भोगी लोग उसकी कल्पना भी नही कर सकते। उनके लिए तो'God is in His heaven and it is all right with the world". (ईश्वर अपने स्वर्ग मे है और ससार में सब कुछ ठीक-ठाक है।) यह कहावत काफी है। उच्च वर्ग शिक्षित है। जन-संख्या वृद्धि की समस्या

भी उसके सामने नहीं। यह तो मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, कमजोर-वर्ग और अशिक्षित वर्ग के सामने है, जो अधिसंख्य है, और जनसख्या में प्रति वर्ष करोडों की वृद्धि के लिए जिम्मेदार है। इस वर्ग मे तो अभी प्राइमरी शिक्षा का ही अभाव है। जनसंख्या-शिक्षा तो उससे आगे का कदम है। साहित्य के माध्यम से निश्चय ही जनसंख्या नियंत्रण का कार्य कारगर ढंग से किया जा सकता है। किन्तु साहित्य के सन्देश को समझने के लिए पहले सामान्य शिक्षा से अशिक्षित-वर्ग के मन-मस्तिष्क का विकास और परिष्कार आवश्यक ही नही अनिवार्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनसंख्या-शिक्षा के महान् राष्ट्रीय-कार्य में लगे हुए जन-सेवकों पर अशिक्षितों को सामान्यतया शिक्षित करने का अतिरिक्त भार नही डाला जा सकता। यह बुनियादी शिक्षा का कार्य तो शिक्षा विभाग का ही है। आम आदमी के सामान्यतया शिक्षित हो जाने पर रचनाशील साहित्यकार की सर्जनात्मक भूमिका आरम्भ होती है। यहाँ से उसे देखना है कि साहित्य के किस स्तर, विधा और प्रयोग से वह आम आदमी मे जन संख्या नियंत्रण की चेतना (Consciousness) पैदा कर सकता है। वह गाँव-गाँव, कस्बे-कस्बे, शहर-शहर की आबादी के अनुरूप साहित्य के विविध रूपों—कविता, कहानी, नाटक, नौटंकी, स्वाँग, रास-रासकों और अन्य लोक-साहित्य विधाओं के माध्यम से आम आदमी में जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि के दुष्परिणामों का अहसास पैदा करे। आज साहित्यकार का दायित्व है कि वह आम आदमी पर उजागर करे कि हमारे राष्ट्रीय संकटों की लम्बी शृंखला में जनसंख्या-वृद्धि पहली कड़ी है, जिसे तोड़े बिना आगे की और कड़ियाँ नही टूट सकतीं। यह एक ऐसा अखण्ड-दुश्चक्र (Vicious circle) है जो नये-नये दुःखो और संकटों को जन्म देता रहता है, और जिसे तोडे बिना राष्ट्रीय पुनर्निमाण या सुखी समृद्ध समाज का घटन संभव नही है। निरन्तर बढ़ती जनसंख्या, निरन्तर बढ़ते अपराधों, आपाधापी और भ्रष्टाचार का भी कारण है। यही अनियन्त्रित आबादी हमारी सारी राष्ट्रीय-विकास-योजनाओं को शीघ्र विफल कर देती है। यद्यपि इधर हमारे कृषि-उत्पादन और उद्योगों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, तथापि बढती जनसंख्या उसे हर कदम पर पीछे छोड़कर आगे दौडी जा रही है। 'नौ खाए, तेरह की भूख' वाली यह स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है। इस स्थिति को सँभालना न तो केवल सरकार का ही कर्तव्य और उत्तरदायित्व है और न केवल उसके बस की ही बात है। यह समस्या तो आज प्रत्येक देशवासी की है और प्रत्येक को विचार-पूर्वक इस का

हल निकालना है। बुद्धिजीवी और रचनाशील साहित्यकार अपनी समाजोपयोगी रचनाओं से जन-संख्या-शिक्षा के क्षेत्र में प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकता है।

जनसंख्या-वृद्धि के दुष्परिणामों—जान लेवा गरीबी, बीमारी, कलह, निराशा आदि की ओर आम आदमी का ध्यान दिलाकर उसे रोकने की दिशा में हमारे प्राचीन, मध्यकालीन और समकालीन साहित्य और साहित्यकारों का क्या योगदान रहा है। उसे आज उजागर करना काफी लाभप्रद उपाय हो सकता है। इसे हमें केवल एक प्रचार मात्र न मानकर गम्भीर राष्ट्रीय समस्या के रूप में ग्रहण करना होगा।

साहित्य क्या है, उसकी शक्ति और महत्ता क्या है, समाज के कल्याण-कार्यों में उसका क्या प्रयोजन है, जनमानस को प्रभावित करने की उसकी प्रक्रिया क्या है, अब इन प्रश्नों पर थोड़ा विचार कर लिया जाए। 'साहित्य' शब्द का अर्थ है, सहितता या साथ-साथ होना। शब्द और अर्थ का एक दूसरे के साथ होना ही 'साहित्य' है। साहित्य का एक दूसरा अर्थ है 'समाज' (दे० मोनियर विलियम्स : संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी, पृ०१२१२) इस प्रकार साहित्य अपनी मूल प्रकृति में समाज-सापेक्ष और समाज का पर्याय है। समाज या लोक के हित की साधना करना भी साहित्य का एक प्रमुख प्रयोजन है, जिसमें लोक-मानस का परिष्कार, उन्नयन और उसे आनन्द प्रदान करना आदि सभी उद्देश्यों का समावेश हो जाता है। भारत के प्राचीन और आधुनिक, तथा विश्व के अनेक दार्शनिक आचार्यों और साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य के उद्देश्यों और प्रयोजनों पर बड़े विस्तार से विचार किया है। 'लिटरेचर' के अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत बाद का है। पहले शब्द और अर्थ की सम्पृक्ति से निर्मित सभी रचनाओं को 'काव्य' और उनके रचनाकार को 'कवि' कहा जाता था। इस दृष्टि से विश्व की सबसे प्राचीन रचना ऋग्वेद भी काव्य ही ठहरता है। 'एपिक' या 'महाकाव्य' के रूप में संस्कृत में आदि कवि वाल्मीकि का रामायण विश्वविख्यात है ही। आचार्य भरत मुनि (तीसरी या चौथी शती) ने सब प्रकार के लोक-शिक्षण और आनन्द की सिद्धि के लिए नाटक का प्रवर्तन किया। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ या कथा-वस्तु, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण कर रंग-मंच पर नाटक प्रस्तुत किये। नाटक भी काव्य या साहित्य की ही

एक विधा या रूप है, जो लोक-शिक्षण के लिए सबसे उपयोगी, आकर्षक और प्रभावशाली साधन है, और जिसका आधुनिकतम रूप सिनेमा है। भरत मुनि ने बड़े विस्तार से नाट्य का उद्देश्य बताते हुए कहा है कि 'यह नाट्य सभी को दुःख, शोक, श्रम से मुक्त करेगा। सभी का हित-साधन, बुद्धिवर्धन करता हुआ लोक को उपदेश देने वाला होगा। कोई, ज्ञान, कोई शिल्प-कोई विद्या कोई कला और कोई प्रयोग या कर्म ऐसा नहीं जो नाटक में प्रयुक्त न हो सके[1]। नाटक सारे विश्व के अनुभवों का माध्यम बन सकता है। आचार्य मम्मट (११ वीं शती) ने काव्य को संसार में उचित व्यवहार की शिक्षा-कल्याण और कान्ता सम्मित उपदेश देने वाला कहा है। तुलसी भी "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुर सरि सम सब कहँ हित होई', कहकर काव्य को सबके कल्याण का साधन घोषित करते हैं। आधुनिक हिन्दी के महारथी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में कहा है—"कवि वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द, क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ मुक्त रूप में अनुभव करते है। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्च-भूमि की प्राप्ति होती है। × × × कविता ही हृदय को प्रकृत-दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, 'कविता क्या हैं ?') उपान्यास सम्राट् प्रेमचन्द श्रेष्ठ साहित्य का उद्देश्य बताते हुए कहते हैं—'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हम में गति और शान्ति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जाग्रत् हो, जो हममे सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख स्तम्भों में गजानन माधव मुक्तिबोध अन्यतम हैं। साहित्य या काव्य को समाज सापेक्ष मानते हुए वे

---

[1] धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥
न तच्छ्रुतं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।

—भरतनाट्यशास्त्र, १.११५,११६.

कहते हैं, "जो लोग साहित्य के केवल सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक पक्ष को चरम मानकर चलते है, वे समूची मानव सत्ता के प्रति दिलचस्पी न रख सकने के तो अपराधी हैं ही, साहित्य के मूलभूत तत्त्व, उसके मानवीय अभिप्राय, तथा मानव-विकास मे उसके ऐतिहासिक योगदान अर्थात् दूसरे शब्दो मे साहित्य के स्वरूप विश्लेषण तथा मूल्यांकन न कर पाने के भी अपराधी है। साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानवसत्ता का अध्ययन है।" (नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र, 'समाज और साहित्य', पृ० ११२)

साहित्यकार किस प्रकार जन चेतना को किसी विशेष समस्या की ओर उन्मुख करता है, अब यह देखा जाय। कवि या साहित्यकार एक प्रतिभाशाली कलाकार होता है। वह अपने विशेष शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, व्यंग्य, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को साधन बनाकर मनोरम कल्पना के सहारे अपनी बात समाज से कहता है। किन्तु समाज को लगता है कि वह समाज की ही सच्ची अनुभूतियों को सामने रख रहा है। उदाहरण के लिए हम अपने ही प्रस्तुत विषय जनसख्या-शिक्षा को ले। एक सच्चा कवि अपनी जिस बाँकी शैली और अप्रत्यक्ष (indirect) रूप मे जनता या समाज को जनसख्या-नियत्रण के लिए प्रशिक्षित कर सकता है, उतने प्रभावशाली ढंग से शायद ही कोई अन्य साधन कर सकता हो। इस दिशा मे साहित्य या काव्य की प्रक्रिया अर्थशास्त्र की अप्रत्यक्ष-कर-प्रणाली (Indirect taxation) की भाँति सफल सिद्ध होती है। साहित्य या काव्य का सन्देश शास्त्र या कानून की तरह कठोर होकर आम आदमी तक नही पहुँचता, बल्कि वह बडे मनोवैज्ञानिक ढंग, बडी मधुरता, सुन्दरता और स्वयं प्रेरणा (Auto-suggestion) की तरह मनुष्य के मन-मस्तिष्क तक पहुँचता है। आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य का उपदेश, किसी प्रिय-पत्नी का उसके पति को दिया हुआ उपदेश है, जिसे पति महोदय बडी तत्परता से सुनते है, और उसके अनुसार चलने भी लगते हैं। मनुष्य का सहज-स्वभाव है कि वह उपदेश या आदेश सुनना पसन्द नही करता, और उस व्यक्ति से तो बिलकुल ही नही सुनना चाहता, जिसे वह पसन्द नही करता। मैंने यहाँ केवल 'पत्नी' शब्द का प्रयोग न करके 'प्रिय-पत्नी' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि प्रिय-पत्नी की बात पुरुष अवश्य ध्यान से सुनता है। सो, काव्य या साहित्य द्वारा कलात्मक सौन्दर्य के साथ कही हुई बात किसी भी सहृदय व्यक्ति के मन को छुए बिना

नही रह सकती। अपनी बात को एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहूँगा। अन्तिम मुगल बादशाह और भावुक कवि बहादुरशाह जफर के काव्य-गुरु (उस्ताद) शायर मु० इब्राहीम जौक का एक मार्मिक शेर है, जो उन्होंने अधिक सन्तान के बोझ से दबे हुए व्यक्ति के कष्टमय जीवन को लक्ष्य करके कहा है। शेर यों है—

"तोड़ा कमरे-शाख को कसरत ने समर की।
दुनियाँ में गराँबारिये औलाद गजब है।"

शेर की व्याख्या इस प्रकार है कि किसी पेड की शाखा पर इतने फल लद गये कि शाखा ही उन फलों के बोझ से टूट गई। इसी प्रकार दुनियाँ मे ज्यादा औलाद का होना भी बस एक गजब या अभिशाप है। शाखा मे कमर का आरोप और फल में सन्तान की ध्वनि स्थापित करके कवि ने जिस सुन्दरता से मानवीय-भाव को व्यक्त किया है, वह अद्‌भुत प्रभाव श्रोता के मन पर डालती है। एक साहित्यकार ने एक व्यावहारिक सत्य और जीवन के एक मार्मिक अनुभव को यहाँ जितने संक्षेप में, सरस, सरल और प्रभावशाली ढंग से रख दिया है, क्या कोई अन्य प्रचार-माध्यम उतने आकर्षक ढंग से उसे हमारे मन-मस्तिष्क तक पहुँचा सकता है ? सारे संसार के श्रेष्ठ साहित्य में ऐसे हजारों उदाहरण मिल जाएँगे, जिनके प्रभाव से केवल व्यक्तियो की ही नहीं, समूचे राष्ट्र की जीवन-धारा बदल गई है। बिहारी जैसे शृंगारी कवि ने भी अपने एक छोटे से दोहे से विलास में डूबे, कर्तव्य-विमुख जयपुर नरेश जयसिंह को पुनः कर्तव्य-ज्ञान करा दिया था। वह प्रसिद्ध दोहा यह है, जिसे सब जानते हैं :—

नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौ बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

दोहे में प्रयुक्त एक-एक शब्द विशेष व्यंग्यार्थ को लिए प्रकरण को स्पष्ट कर रहा है।

जहाँ तक जन संख्या-चेतना का प्रश्न है, भारतवर्ष ही वह प्रथम राष्ट्र है, जिसके साहित्य में बड़े परिवार के सकट की चर्चा सबसे पहले मिलती है विश्वभर के विद्वान् ऋग्वेद को विश्व की सबसे प्राचीन साहित्यिक रचना मानते हैं। भारतीय मान्यता को छोड़ भी दे, जिसमें वेद को अपौरुषेय औ

ानादि माना गया है, किन्तु पाश्चात्य विद्वान् प्रो० ए० एल० बैशम भी ऋग्वेद को ईसा से कम से कम १५०० वर्ष पूर्व की रचना मानते है। ऋग्वेद मे एक मन्त्र आता है :—

य ईं चकार न सो अस्य वेद।
य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहु-
प्रजा निर्ऋतिमाविवेश ।। ऋ१.१६४.३२।।

इस मन्त्र की व्याख्या यास्क (ई० पू० ४ शती) ने अपने निरुक्त मे परिव्राजकों के मतानुसार दी है। बहुप्रजा कृच्छमापद्यते—इति परिव्राजका.। बहुप्रजाः बहुअपत्यो दरिद्रः पुरुषः कृच्छ दुःखं आपद्यते। यः चकार करोति ईं गर्भं न स गर्भस्य तत्त्व वेद। केवलं त्वसौ कामार्त्तः पुत्रार्थी वा करोत्येव गर्भम्। अर्थात् 'बहुत सी सन्तान वाला पुरुष दरिद्र होता है और वह दु.ख प्राप्त करता है। जो पुरुष यो ही सन्तान उत्पन्न करता है, वह गर्भ का रहस्य तो जानता नहीं, वह केवल कामुकता के वशीभूत होकर अथवा पुत्र कामना से गर्भाधान करता है'। (दे० निरुक्त अध्याय २)

प्राचीन संस्कृत साहित्य मे अनेक ऐसे सन्दर्भ भरे पड़े हैं, जिनका साराश यह है कि सन्तान की संख्या वृद्धिमात्र निष्फल है। संतान का गुणवान् होना ही श्रेयस्कर है। ऐसे पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ है, जो न विद्वान् है, न सदाचारी। कानी आँख से तो केवल आँख का दुःख ही तो होता है। यदि सन्तान ही न हो, होकर मर जाए या अशिक्षित हो तो इनमे पहली दो स्थितियाँ तो एक बार ही दुःख देती हैं, किन्तु मूर्ख सन्तान पद-पद पर कष्ट देती है। गुणियों की गणना मे यदि किसी के पुत्र का नाम श्रेष्ठता में उँगलियों पर नही गिना जाता और उस माँ को भी यदि पुत्रवती माना जाता है, तो बताइए बाँझ स्त्री किसे कहा जाएगा ? दान, तप, वीरता, विद्या और अर्थ-लाभ में जो सन्तान प्रसिद्ध न हो तो, उसे तो केवल माता का मल ही समझना चाहिए। यदि एक ही गुणी पुत्र हो तो अच्छा। सौ-सौ मूर्ख पुत्र किस काम के ? एक ही चन्द्रमा अन्धेरा दूर कर देता है, तारों का विशाल समूह भी कुछ नहीं कर पाता :—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान् न धार्मिकः।
काणेन चक्षुषा किंवा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥
अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद् दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥
गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसंभ्रमाद्यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद बन्ध्या कीदृशी नाम ॥
दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः॥
वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च ॥

(पंचतन्त्र आदि संस्कृत के विविध स्रोतो से नारायण पंडित के हितोपदेश मे उदधृत)

सन्तान की श्रेष्ठता की यह चेतना वैदिक और लौकिक सस्कृत-साहित्य से हिन्दी-साहित्य मे आई। श्रेष्ठ सन्तति का आधार श्रेष्ठ वैवाहिक सम्बन्ध है, जिसमे स्त्री-पुरुष दोनों का हर दृष्टि से साम्य और सामंजस्य होना चाहिए अन्यथा कष्ट की अखण्ड-परम्परा आरम्भ हो जाती है और स्थिति भी बड़ी हास्यास्पद हो जाती है। मध्यकालीन हिन्दी के बडे ही लोकप्रिय कवि गिरिधर कविराय ने अनमेल ब्याह के अनौचित्य को एक अन्योक्ति द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है :—

केंचुआ नागिन से कहै सुनो सत्य कौ सार।
हम तुम दोऊ जाति कौ लाख भांति ब्यौहार ॥
लाख भांति ब्यौहार ब्याह सावन में कीजै।
क्वार चैत कौ घाम कटक दल हमरौ छीजै।
कह गिरिधर कविराय कहाँ ते आए हेचुआ।
सेसनाग मरिजाहिं नागिनहि ब्याहै केंचुआ ॥

सब प्रकार से अनमेल होने पर भी कुछ बाहरी समानता के आधार पर विवाह करना, जिसमे विवाहित पुरुष, सामने आई चुनौतियों का सामना करने में नितान्त असमर्थ हो और अपना अस्तित्व ही खो बैठे, कैसे एक श्रेष्ठ स्त्री से विवाह करने की जुर्रत कर सकता है ?

आधुनिक काल में और खड़ी बोली हिन्दी के आरम्भिक प्रमुख कवियों में
० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' अपनी सामाजिक चेतना में भी बेजोड़
। अनमेल विवाह जो हर दृष्टि से राष्ट्र के लिए घातक और अन्यायपूर्ण
, उसका प्रबल विरोध उन्होंने अपने 'चुभते चौपदे', मे किया है :—

जो कली है खिल रही उसके लिए,
वर, पके सूखे फलों जैसा न हो।
दो दिलों में जाय जिससे गाँठ पड़,
भूल गँठजोड़ा कभी ऐसा न हो।
मिल सकेगा सुख न यह धन-धाम से,
दुख न मेटेंगी मुहर की पेटियाँ,
तज सयानप, कमसिनों से किसलिए,
ब्याह हम देवें सयानी बेटियाँ ॥

(चुभते चौपदे-पृ० १५८)

'भारत-भारती' जैसे अद्वितीय राष्ट्रीय जागरण-काव्य के रचयिता राष्ट्र-
कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी अनेकशः बेजोड़ विवाहों का घोर विरोध किया
। एक स्थान पर वे कहते हैं—

'छोड़ो वे बेजोड़ विवाह ।
होता है जिनसे गृह-दाह ॥

(हिन्दू, पृ० ६४-६५)

आरंभिक खड़ी बोली हिन्दी के एक अन्य भावुक कवि ठाकुर गोपालशरण
सिंह नारी के सम्मान और कल्याण के बड़े सशक्त पक्षधर थे । उन्होंने भी
समाज में बेमेल विवाह की कुरीति और अन्याय पर करुण स्वर में कहा है —

कुसुम कली वानर के कर में, है मलीन म्रियमाण ।
मृदुलतिका का प्रेमालिंगन, करता है पाषाण ॥
नयन-नयन से, हृदय-हृदय से और प्राण से प्राण ।
कहते यही मौन भाषा में, करिये मेरा त्राण ॥

काव्य की सांकेतिक भाषा स्थूल प्रचार की भाषा से कितनी अधिक
भाव शालिनी होती है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है, किन्तु इस संकेत को

समझने के लिए भी आम आदमी का पहले सामान्यतया शिक्षित होना अनिवार्य है।

अवांछित जनसंख्या की वृद्धि मे बाल-विवाह एक प्रमुख कारण है। इसे रोकने का प्रयत्न १९ वी शती के आरम्भ से ही देश के अनेक राष्ट्रीय नेताओ, महापुरुषों, समाज-सुधारकों और सजग-साहित्यिकारो ने किया। महर्षि दयानन्द, राजा राममोहन राय, महात्मा गांधी आदि इनमें प्रमुख थे। साहित्य-कारों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, मिश्रबन्धु, मैथिलीशरण गुप्त आदि अनेक कवियों ने बाल-विवाह पर चोट की है— मिश्र बन्धु एक छप्पय में कहते है–

बाल व्याह करि करै अंध जो भोग विलासा।
करि विवाह बहु रमैं सदा जो मनसिज दासा॥
आतम हत्या सरिस पाप वे लहैं सदा ही।
अरु उनके सन्तान महा निरबल हो जाहीं॥
जो निजतन, तियतन, पुत्रतन, तनया तन का बल हरै।
उस बूढ़े पितु की दीन रट वह कुपुत कब मन धरै॥

अवांछित जनसंख्या वृद्धि में बाल विवाह से भी अधिक भयावह बहु-विवाह है, जिसकी ओर भी कवि ने यहां संकेत कर दिया है। मैथिलीशरण गुप्त ने बाल-विवाह का विरोध इस प्रकार किया है—

हैं बच्चों के बच्चे व्यर्थ। न लो सुफल भी कच्चे व्यर्थ।
शिक्षा दीक्षा रक्षा योग्य। प्राप्त करो धन बल आरोग्य।
तब उत्पन्न करो सन्तान। तभी सुगति होगी मतिमान॥
(मै. श. गुप्त, हिन्दू, पृ० १४७)

जन संख्या वृद्धि और सारे पापो की जड़ गरीबी में अन्योन्याश्रित या चोलीदामन का सम्बन्ध है। गरीबी ऐसे-ऐसे अपराधों और पापों को जन्म देती है जिनकी कल्पना भी नही की जा सकती—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्। क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति॥' (भूखा आदमी कौनसा पाप नही कर सकता ?) वह आत्म हत्या से लगाकर बड़े से बड़े हत्याकाण्ड, अपहरण, चोरी, डकैती सब कुछ कर सकता है। भूख की आग सब कुछ को भस्म करने के लिए ही मानो सुलगती है। निर्धनता के समान कोई दूसरा दुःख नही। सब दुःख इसी दुःख की सन्तान हैं–गोस्वामी तुलसीदास ने इसे सबसे बड़ा

दुःख बताया है—'नहिं दरिद्र सम दुःख जग माहीं।' किन्तु इस महान् दुःख का जिम्मेदार वह नासमझ गृहस्थ को ही ठहराते हैं। उनका तात्पर्य सम्भवत: बहुत सन्तान वाले मूर्ख कुटुम्बी से ही रहा होगा—

उन्होंने लिखा है—

जल संकोच विकल भए मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥

तुलसी ने अन्यत्र भी अत्यन्त निर्धन व्यक्ति को जीते जी मृत बताया है—

कौल काम बस कृपन विमूढा।
अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥

थोडी सी कमाई के बडे परिवार में कण-कण बँट जाने से असन्तोष और अतृप्ति का वातावरण पैदा हो जाना स्वाभाविक ही है। बड़े परिवार की दुर्दशा की ओर नन्ददास जैसे कृष्णभक्त भी सकेत करने में नहीं चूके हैं उन्होंने कहा है :—

कृपन दरिद्र कुटुम्बी जैसे। अजितेन्द्रिय दुःख भरत हैं तैसे॥
(नन्ददास ग्रंथावली पृ० २६१)

आगरे के परम उदार उर्दू शायर नजीर अकबराबादी ने गरीबी के दुःखों के बड़े मार्मिक शब्दों मे व्यक्त किया है—

जब मुफलिसी हुई तो शराफत कहाँ रही।
वो कुदरत जात की निजावत कहाँ रही॥
कपड़े फटे तो लोगों में इज्जत कहाँ रही।
ताजीम और तवाजे की बातें कहाँ रही॥
मजलिस की जूतियों पै बिठाती है मुफलिसी॥

× × ×

आशिक के हाल पर भी जब आ मुफलिसी पड़े।
माशूक अपने पास न दे उसको बैठने॥

सारांश यह है कि गरीबी एक ऐसा अभिशाप है जो मनुष्य को दीन दुनिया कही का नहीं छोड़ता। एक पाश्चात्य चिन्तक गरीबी को सबसे भयंकर

बीमारी बताता है —"Poverty—the most deadly and prevalent of all diseases—

(Eugene, O' Neill, fog)

'गरीबी रूपी बीमारी न केवल सबसे भयंकर है, बल्कि सबसे अधिक व्यापक भी है'। कहना न होगा कि अपार जनसंख्या गरीबी के प्रमुख कारणों में से प्रमुखतम कारण है। यदि हमें अपनी स्वाधीनता की रक्षा करनी है, तब भी हमे गरीबी के बन्धन से मुक्त होना होगा, क्योंकि गरीबी, व्यक्ति और राष्ट्र—कोई भी हो—अभाव की स्थिति मे उसे परमुखापेक्षी बनाती है। एक पाश्चात्य चिन्तक का मत उचित ही है—"To be poor and independent is very nearly an impossibility"

(William Cobbet, Advice to Youngmen)

'निर्धन होकर स्वतंत्र रहना लगभग असंभव है'।

अधिक क्या कहा जाय! 'बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊं !' जनसंख्या-शिक्षा के महान् राष्ट्रीय कार्य में अन्य क्षेत्र के विद्वान् जो कर रहे हैं, वह तो अत्यन्त आवश्यक है ही, साहित्य ने पहले जो कार्य इस दिशा में किया है, उसे उजागर करना और प्रत्येक सजग साहित्यिकार को अपनी इच्छा से इस राष्ट्रीय समस्या के हल के लिए अपनी उपयोगी रचनाओं—कविता, लेख, एकांकी, आदि प्रस्तुत करना अपना नैतिक उत्तरदायित्व समझना चाहिए। समय की यही पुकार है।

राग : शब्द व्युत्पत्ति और परिभाषा

संगीत के क्षेत्र में जिस 'जन-चित्त-रंजक ध्वनि-विशेष' की प्रतिष्ठा है, उस ध्वनि-विशेष के वाचक 'राग' शब्द का उद्गम 'रञ्ज्' धातु से है। पाणिनीय व्याकरण में दो स्थलों पर—'रञ्ज् रागे' (भ्वा० उ० अ०, ६६६ तथा दि० उ०, ११६७)—'रँगने' के अर्थ मे 'रञ्ज्' धातु का प्रयोग बताया गया है। इसी धातु में 'घञ्' प्रत्यय जुड़कर 'राग' संज्ञा-शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'रंग' है। 'रञ्ज्+भावे करणे वा घञ्। रंजनमिति, रज्यतेऽनेनेति वा' (शब्दकल्पद्रुमः)। अर्थात्—'रञ्ज्' धातु में भाववाचक संज्ञा, क्रिया या साधन के अर्थ में 'घञ् प्रत्यय से 'राग' शब्द सिद्ध होता है।' 'रँगना' क्रिया और 'राग' या 'रंग' संज्ञा (नाम-पद) की यह मूल अर्थ-भावना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। 'जन-चित्त-रंजन', 'लोक-मनोरंजन' या बाह्य रूप से 'अंगराग' के प्रयोग से वस्तुतः मनुष्य प्राणी के चित्त, मन अथवा शरीर को किसी एक रंग में रँगा ही तो जाता है। यह रंग द्वारा एकीकरण—यह द्वैत का लोप ही अलौकिक आनंद का कारण होता है। संगीत का 'राग' भी हमें अपने रंग में रँग लेता है। प्रेमी और प्रेमास्पद का 'राग' या 'अनुराग' भी यही कार्य करता है, अर्थात् वह एक ही रंग—प्रेमानुभूति—द्वारा प्रेमी और प्रेमास्पद, दोनों को एकाकार कर देता है, जो उनके चरम आनंद की स्थिति होती है। अर्थात् किसी एक तत्त्व में रँग जाना ही अलौकिक आनंद की स्थिति है। भक्ति के क्षेत्र में 'श्याम-रंग में रँग जाना' ही भक्त का चरम प्राप्य है। इसीलिए भारतीय कोष-ग्रंथों में 'रञ्ज्' धातु से निष्पन्न 'रंजन' और 'रंग' शब्द क्रमशः 'रंगने' की क्रिया तथा 'वर्ण' या 'रंग' (विशेषतः 'लाल रंग') के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'मेदिनी-कोष' में कहा गया है—'रंजनो रागजनने, रंजनं रक्तचंदने।' अर्थात्—'रंजन' शब्द 'रंग उत्पन्न करने' और 'लाल चंदन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।' इस प्रकार 'राग' शब्द के अभिधेयार्थ—'रंग' और 'रँगे जाने की प्रक्रिया'—से अनेक ज्ञान-क्षेत्रों का सम्बन्ध है, जिनका समाहार एक ही बिंदु पर आकार होता है।

वास्तव में शब्द की अर्थानुभूति के बिना लोक में किसी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि सम्भव नहीं है। वैयाकरण भर्तृहरि ने वाक्य-पदीय (१।८३) में कहा है—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।' अर्थात्—'लोक में कोई ज्ञान ऐसा नहीं, जिसकी उपलब्धि शब्द के बिना सम्भव हो सके। शब्द में ज्ञान पिरोया हुआ है। सब चीजों का ज्ञान शब्द से होता है।' इन्हीं मनीषी ने यहाँ तक कहा है कि यह समस्त चराचर जगत् शब्द का परिणाम है—'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।'

संगीतरत्नाकरकार निःशंक शार्ङ्गदेव का मत है कि 'नाद से वर्ण, वर्ण से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्यों से इस जगत् के व्यवहार व्यंजित होते हैं; अतः यह सारा जगत् नाद के अधीन है। आहत और अनाहत रूप से यह नाद पिंड (मनुष्य-देह) में प्रकाशित होता है।' (संगीत-रत्नाकर, १।२।२-३)

'वाक्' (नाद) और 'अर्थ' नित्य संपृक्त हैं। वाक् या नाद में समाविष्ट (वस्तुतः कहा जाए तो आरोपित) अर्थ हमारी विचार-शक्ति के वाहन 'शब्द' पर ही आरूढ होकर आता है। शब्द-शक्ति के सिद्धांत से शब्द की तीन शक्तियाँ है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन्हीं तीनों के द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हुए भी अभिधा की प्राथमिक महत्ता की अवहेलना नहीं कर सकतीं। क्योंकि अभिधा शक्ति शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ या मुख्य अर्थ की बोधिका है। प्रकृत प्रसंग में हमारे विवेच्य 'राग' शब्द की अभिधा शक्ति उसके 'रँगना' या 'रंग' अर्थ का बोध कराती है। इसके लक्ष्यार्थ 'तन्मयता' और व्यंग्यार्थ 'अलौकिक आनंद' उसके अन्य सोपान हैं। शब्द के संकेत-ग्रहण (अर्थ-ज्ञान) के आठ साधन हैं:—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशा-
प्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य धीरा
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति॥

अर्थात्—'विद्वान् लोग 'शब्द की शक्ति' अर्थ को १. व्याकरण, २. उपमान, ३. कोष, ४. आप्त-वाक्य (यथार्थ वक्ता के कथन), ५. व्यवहार, ६. प्रसिद्ध पद के सान्निध्य, ७. वाक्य-शेष तथा ८. विवृति (विवरण या टीका) से ग्रहण करते हैं।' 'राग' शब्द के अर्थ-ग्रहण में ये सभी साधन उपादेय

हैं, किन्तु इनमें व्याकरण और कोष का स्थान सर्वोपरि है। इन्ही से काव्य-शास्त्र (पूर्व-राग, अनुराग), योग-दर्शन (सुखानुशयी राग), वैद्यक-शास्त्र (राग-खांडव), खगोल-शास्त्र (उपराग), संगीत-शास्त्र (ग्राम-राग) आदि के क्षेत्र में व्यवहृत 'राग' शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है।

भारतीय वाङ्मय एवं लोक-प्रज्ञा के सभी क्षेत्रों में व्यवहृत 'राग' शब्द से संकेतित सभी मूर्त भौतिक पदार्थ (रंग, वर्ण, Colour आदि) तथा अमूर्त भाव (प्रेम, स्नेह, भक्ति, आसक्ति, अनुरक्ति आदि) अंततोगत्वा एक ही स्थिति का बोध कराते हैं, और वह स्थिति है–'तन्मयीभवन'। 'तन्मयता', 'तादात्म्य', 'तदाकारता' 'एकाकारता', 'एकतानता', 'साधारणीकरण' आदि अनेक पर्यायो से जिस स्थिति और उससे प्राप्त जिस अनिर्वचनीय एवं अलौकिक आनन्द का बोध होता है, 'राग' शब्द अपनी अभिधा-शक्ति से उसी का वाचक है। यह साधन भी है, साध्य भी! साधनावस्था मे इसका कार्य 'तन्मयीकरण' है, जैसे कोई राग (रंग) किसी दूसरी वस्तु को रँगकर अपने-जैसा बना ले या संगीत का कोई राग गायक और श्रोताओं को तन्मय कर दे। साध्यावस्था में इसका रूप भोक्ता या पदार्थ का तन्मयीभवन है, जैसे अनुराग से प्रेमी और प्रेमास्पद की भेदनिवृत्ति—'सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद:।' अर्थात्—'सारे ससार में मेरी वही प्रेयसी व्याप्त है, यह कैसा अद्भुत अद्वैतवाद है।' या भगवदनुराग से आविष्ट भक्त जब कह उठे :—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं हूँ है गई लाल॥

सारांश यह है कि लौकिक-अलौकिक, सभी क्षेत्रों से समाहृत 'राग' शब्द का चरम अभिमतार्थ अन्त मे एक ही बिन्दु—'तन्मयीभवन' या 'अद्वैतानंद'—पर आकर केंद्रित हो जाता है। अद्वैत या कैवल्यवादी भारतीय चिंतन-धारा की यह सहज-स्वाभाविक परिणति है। महाकवि कालिदास ने सागीतिक 'राग का स्पष्ट उल्लेख करते हुए राग की इसी तन्मयकारिणी शक्ति की ओर सकेत किया है—'**अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग:।**'

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृत:।
एष राजेव दुष्यंत: सारंगेणातिरंहसा॥

(अभिज्ञानशाकुंतलम् १।२)

नटी के राग-गायन करने के प्रभाव का उल्लेख करते हुए सूत्रधार कहता है कि 'अहा ! राग के कारण तन्मय-चित्त-वृत्तिवाले समस्त प्रेक्षक चित्र के समान अचल हो गए हैं। मैं भी तुम्हारे गीत के मनोहारी राग से बरबस ऐसे खिंचा चला जा रहा हूँ, जैसे अत्यन्त वेगवाले सारंग (हरिण) के साथ यह राजा दुष्यंत'। (महाकवि ने हरिण के पर्याय 'सारंग' का प्रयोग करके राग 'सारंग' की ओर भी संकेत कर दिया है।) एक अन्य स्थल पर 'अहोरागपरिवाहिनी गीतिः' (अभिज्ञानशाकुंतलम्, ५।१) कहकर कवि ने 'राग' शब्द के श्लिष्ट अर्थ १. 'प्रेम' तथा २. 'संगीत की स्वरवर्ण-विभूषित-ध्वनि-विशेष' राग का संकेत किया है। यह द्वितीय अर्थ ही संगीत में पारिभाषिक रूप से गृहीत हुआ है। संगीत-शास्त्र में छह राग मुख्य हैं। 'संगीत-रत्नाकर' के मनीषी टीकाकार चतुर कल्लिनाथ ने लिखा है—'दशविधानामेतेषां रागत्वं रंजनात्। रंजनं च रज्यते येन जनचित्तमिति करणव्युत्पत्त्या वा जनचित्तानि रंजयतीति कर्तरि वा × × उभयार्थो घटते।' अर्थात्—'रंजन करने (रँगने=आनंदित करने) के कारण इन दशविध (ध्वनियों) को 'राग' कहते हैं।' तृतीया विभक्ति से इसकी व्युत्पत्ति करने पर अर्थ होगा—'जिससे जन-चित्त रँग दिया जाए—आप्लावित—आनंदित कर दिया जाए, वह 'राग' है।' इसी प्रकार प्रथमा विभक्ति से इसकी व्युत्पत्ति करने पर अर्थ होगा—'जो जन-चित्त को रँग दे (आप्लावित—आनंदित कर दे), वह 'राग' है।' ये दोनों ही अर्थ घटित होते हैं।

'राग' की उक्त दोनों परिभाषाओं का स्पष्टीकरण करते हुए कल्लिनाथ ने मतंग का मत उद्धृत किया है; यथाः—

> स्वरवर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा जनः।
> रज्यते येन कथितः स रागः सम्मतः सताम्॥

अथवाः—

> योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
> रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः॥

अर्थात्—'जिस स्वर-वर्ण-विशिष्ट ध्वनि-भेद से मनुष्य रँग जाता है (तन्मय हो जाता है), वह सत्पुरुषों के मतानुसार 'राग' है।' अथवा—'स्वर और वर्ण से अलंकृत उस ध्वनि-विशेष को बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा 'राग' कहा गया है, जो जन-चित्त को रँग देती है'। (आप्लावित करके आनंदमय बन

देती है)। मतग ने ही राग' शब्द को रूढ, यौगिक और योगरूढ—इन तीनो रूपों में प्रयुक्त किया है।

> कर्णादिवद् रूढो यौगिको वाऽधिमंथवत्।
> योगरूढश्च वा रागो ज्ञेयः पंकजशब्दवत्॥

अर्थात्—'कर्ण' आदि की भाँति रूढ, 'अधिमंथ' (मथानी पर) आदि की भाँति यौगिक और 'पकज' आदि की भाँति योगरूढ रूप में भी 'राग' शब्द को जानना चाहिए।' इसी 'राग' शब्द से इनिः+ङीप् स्त्री-प्रत्यय द्वारा स्त्रीलिंग 'रागिणी' शब्द निष्पन्न होता है। रागिणी अपनी कोमलता, ह्रस्वता, सीमित क्षेत्र आदि के कारण किसी राग की भार्या या पत्नी मानी जाती है। बोलचाल की भाषा में इसका कोमलीकृत सरल नाम 'रागिनी' है। इनकी संख्या हनुमन्मत और भरत-मत से ३० तथा सोमेश्वर और कल्लिनाथ-मत से ३६ है। ये रागिनियाँ छह मुख्य रागों की पत्नियाँ हैं।

व्यापक मानवीय संवेदनाओं के अनुसंधाता महाप्रभु वल्लभाचार्य

यह तो सर्वविदित ही है कि मध्यकालीन वैष्णव-आचार्यों ने समस्त भारतीय जनता को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। इन सभी आचार्यों ने न केवल स्वयं अपने पवित्र, उच्च चारित्र्य, आध्यात्मिकता और निर्मल भगवद् भक्ति से जनता को श्रेष्ठ मानव जीवन बिताने की प्रेरणा दी, बल्कि अपने ऊर्जित व्यक्तित्व से इस देश के अनेक प्रतिभाशाली भक्त कवियों को ऐसे श्रेष्ठ और शाश्वत साहित्य के सर्जन की प्रेरणा दी जिससे भारतीय जनता ही नहीं समस्त विश्व के सहृदयजन आज भी नैतिकता का संदेश, अखंड मानवता और आनंद की अनुभूति प्राप्त करते हैं। भारतवर्ष के ऐसे अनेक वैष्णव दार्शनिकों और भक्त आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा में श्री वल्लभाचार्य अन्यतम हैं जिन्हें सूरदास जैसी विश्व-विश्रुत प्रतिभा को भी प्रभावित करने का श्रेय प्राप्त है। श्री वल्लभाचार्य भारत की सर्वोत्कृष्ट सर्जनात्मक प्रतिभा के प्रतिनिधि और 'विभूतिमद् सत्त्व' थे। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला और साहित्य को उनकी देन अभूतपूर्व है। उनकी सी व्यापक मानवीय संवेदना और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सूझबूझ के जननायक विश्व में विरल ही हुए हैं। उन्होंने अपने युग के जनजीवन की विविध परिस्थितियों को बड़ी सहृदयतापूर्ण सूक्ष्म और गम्भीर दृष्टि से देखा-परखा था। इस दृष्टि से वे सामान्य भारतीय जनता के आध्यात्मिक नेता थे, जिन्होंने उसमें अजेय आत्म विश्वास जगाया था। अपने युग के अतिशय अवसाद और नैराश्यपूर्ण भारतीय जीवन में उन्होंने अपने विशिष्ट भक्तिमार्ग का प्रवर्तन करके एक बार फिर आनंद और उल्लास-उत्साह की लहर उठाई थी। उनके द्वारा इस देश की परम्परागत भक्ति-धारा को जो विशिष्ट मोड़ प्राप्त हुआ था, उसने एक अत्यन्त लोकप्रिय जनान्दोलन का रूप धारण कर लिया था। सहज मानवीय संवेदना और प्रेम-माधुर्य की उस धारा ने भारत के कोटि कोटि जनों को एक बार ही अपने प्रवाह में सम्मलित कर लिया। उस भक्ति-धारा में भारतीय जनता के सभी वर्गों के

लोग सम्मिलित हो गये थे। ऊँच-नीच, सवर्ण-अवर्ण, साक्षर-निरक्षर आदि भेदो का श्री वल्लभाचार्य की पुष्टि-भक्ति में कोई स्थान न था। उनके सेवकों मे यदि ब्राह्मण और सन्यासी थे तो कुम्हार, छीपी और बढ़ई जैसे श्रमजीवी लोग भी थे। उनके प्रभाव का क्षेत्र सुदूर सिन्धु-प्रान्त, गुजरात, बिहार, कश्मीर, पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश तक विस्तृत था। उनके अनुयायी वैष्णव देश के विभिन्न नगरों और गाँवों के निवासी थे। सभल, कन्नौज, अड़ैल, वाराणसी, कड़ा, महावन, सीहनद, शेरगढ़, उज्जैन, गोधरा, राजनगर, थानेश्वर, अम्बाला, ठोरा, मथुरा, आगरा आदि स्थलों से उनके वैष्णव अनुयायी सम्बद्ध थे। (देखिए ८४ वैष्णवों की वार्ता) श्री वल्लभाचार्य स्वभावत. देशाटनशील होने के कारण विशाल और व्यापक जीवनानुभव के धनी थे। ३० वर्ष की आयु तक वे ३ बार भारत की परिक्रमा कर चुके थे। यातायात के सीमित और मंदगति साधनों के उस युग मे उनकी ये भारत-यात्राएँ उनके देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, अदम्य उत्साह, कष्ट सहिष्णुता और असाधारण साहस का ही प्रमाण देती हैं। देश की एकात्मता और अखंडता का ज्ञान ही किसी भी महापुरुष द्वारा देश वासियों को दिया जाता है। उन्होंने भारत के विभिन्न तीर्थों मे अपने प्रियप्रमाणग्रंथ श्रीमद्भागवत के १०८ साप्ताहिक पारायण किये थे। ये स्थल उनकी 'बैठकें' कहलाती हैं। उनकी प्रथम बैठक गोकुल मे गोविन्दघाट पर हुई थी; जहाँ वि० सं० १५५० मे उन्होंने श्रीमद्भागवत का पारायण किया था। १५६७ वि० में जब उन्होंने तीसरी बार ब्रज की यात्रा की थी तभी गऊघाट पर महाकवि सूर से उनकी भेंट हुई और सूर पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए। इन दो महापुरुषों के मिलन की यह घटना भारत के सांस्कृतिक इतिहास की एक महान् घटना है।

श्रीवल्लभाचार्य का केवल ५२ वर्षों का भौतिक जीवन, असाधारण आध्यात्मिक उपलब्धियों से परिपूर्ण था। उनका जन्म भी असाधारण परिस्थितियों और प्राकृतिक परिवेश मे हुआ था। उनके जीवन की संक्षिप्त रूप रेखा से यह स्पष्ट हो जाता है।

श्री वल्लभाचार्य के पूर्वज भारद्वाजगोत्रीय वेल्लनाट तैलंग ब्राह्मण थे। वे यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अध्येता थे। उनका मूल निवास स्थान आन्ध्र प्रदेश मे गोदावरी के दक्षिण तट पर स्थित कांकरवाड ग्राम था। इनके पूर्वज पीढ़ियों से वैष्णव परम्परा मे चले आ रहे थे, जिसका चरम विकास स्वयं

वल्लभाचार्य के प्रखर विद्वत्ता पूर्ण भावुक व्यक्तित्व में हुआ। वल्लभाचार्य के पिता श्री लक्ष्मण भट्ट बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के तपस्वी पुरुष थे। माता का नाम 'इल्लम्मा' था, जो विजयनगर (विद्यानगर) साम्राज्य के शासकों के धर्माचार्यों के परिवार की कन्या थीं। 'इल्लम्मा' के साथ आदर सूचक 'गारु' शब्द का प्रयोग होता था जो तेलुगु भाषा का है। वल्लभाचार्य के पूर्वज सोमयज्ञ किया करते थे, अतः 'सोमयाजी' कहे जाते थे। लक्ष्मणभट्ट के समय तक उनकी वंश परम्परा मे ९५ सोमयज्ञ सम्पन्न हो चुके थे।

लक्ष्मण भट्ट ने ५ सोमयज्ञ करके १०० सोमयज्ञो की निर्धारित संख्या पूरी कर दी थी। सं० १५३४ मे लक्ष्मण भट्ट अपने कुछ जाति-बान्धवों के साथ अपने दाक्षिणात्य निवास स्थान से उत्तर भारतीय तीर्थों की यात्रा पर निकले। वे प्रयाग में त्रिवेणी (संगम) स्नान के उपरान्त काशी पहुँचे। उनकी इच्छा थी कि जीवन के संध्याकाल में स्थायी रूप से काशी में रहें। किन्तु कुछ ही दिन बाद काशी पर बहलोल लोदी के आक्रमण के कारण उन्हें अपनी सप्त मास-गर्भवती पत्नी के साथ आतुरावस्था में पुनः अपने दाक्षिणात्य मूल स्थान की ओर लौटना पड़ा। मार्ग में मध्य प्रदेश के रायपुर मण्डल में स्थित 'चम्पारण्य' नामक सघन वन में एक शमी (छोंकर) वृक्ष के नीचे अर्ध रात्रि में इलम्मा ने ८ वे मास मे ही एक बालक को जन्म दे दिया। कहते है, 'अठमासा' बालक जीवित नहीं रहता। अन्धकार में माता-पिता को लगा कि उनका पुत्र मृतावस्था में ही जन्मा है। उन्होने बड़े दुःख और शोक से बालक के शरीर को पत्तों से ढँक कर छोड़ दिया, और यात्रा पर पुनः आगे बढ़े। प्रातः काल से पूर्व ही वे चौड़ नगर पहुँच गये। लक्ष्मण भट्ट ने स्वप्न मे देखा कि उनका पुत्र जीवित है। अतः दम्पती पुनः उस स्थल पर पहुँचे और उन्होने देखा कि सचमुच ही उनका नवजात पुत्र एक अग्नि- वृत्त के मध्य सुरक्षित है। माता ने आनन्दमय विस्मय से पुत्र को हृदय से लगा लिया। यही बालक विश्व विख्यात वैष्णव आचार्य श्री वल्लभाचार्य के नाम से विख्यात हुआ।

वल्लभाचार्य जी की जन्म तिथि अधिकतर लोग वैशाख कृष्ण-११, रविवार स० १५३५ वि० मानते हैं। कुछ लोग सं० १५२९ वि० के पक्ष में है। अस्तु। काशी मे उपद्रव शान्त हो चुका था, अतः लक्ष्मण भट्ट नवजात पुत्र और पत्नी को लेकर पुनः काशी लौट गये। काशी में ९ वर्ष की व्यवस्था मे सं० १५४४ वि० में वल्लभाचार्य का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। वे अत्यन्त

प्रखर मेधावान् थे। ११ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने वेद-वेदांग-पुराणों का अच्छा अभ्यास कर लिया था। १५४६ में लक्ष्मण भट्ट ने पुनः तीर्थ-यात्रा आरम्भ की। १० वर्ष की अवस्था मे वल्लभाचार्य ने जगन्नाथपुरी मे वहाँ के शासक द्वारा आयोजित शास्त्रार्थ में भाग लेकर मायावादियों को पराजित किया था। १५४७ वि० में तिरुपति में पिता लक्ष्मण भट्ट की इहलीला समाप्त हो गई और वल्लभाचार्य माता के साथ विजयनगर चले आये, जो उनके मामा का निवास स्थान था। विद्यानगर से ही श्री वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत मत के विकास की तीन भारत यात्राओं में से प्रथम यात्रा आरम्भ हुई। १५५० वि० मे गिरिराज गोवर्धन की एक कन्दरा पर उन्होंने देवदमन गोवर्धननाथ जी (श्रीनाथ जी) के दर्शन किए। १५७७ वि० में अम्बाला निवासी पूरनमल खत्री ने गोवर्धन पर श्रीनाथ जी के मंदिर को पूर्ण किया। १५५८ अथवा १५६० वि० में काशी में वल्लभ ने महालक्ष्मी नामक कन्या से विवाह किया। उनके दो पुत्र हुए। श्री गोपीनाथ जी (जन्म सं० १५६८) और श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी (जन्म सं० १५७२) जिनको वल्लभ-सम्प्रदाय के बहुमुखी विकास का श्रेय प्राप्त है। गो० विट्ठलनाथ जी ने ही अपने पिता के चार शिष्यो—कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास तथा अपने चार शिष्यों—नन्ददास, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और छीतस्वामी को मिलाकर अष्टछाप की स्थापना की थी।

विजय नगर के शास्त्रार्थ में विजय—विजयनगर के शासक कृष्णदेव राय ने संभवतः सं० १५६६ के आसपास एक दार्शनिक शास्त्रार्थ का आयोजन किया था, जिसमें श्री वल्लभाचार्य ने अपनी तीसरी भारत यात्रा के समय भाग लिया और विजय प्राप्त की। आचार्य जी की यह विजय वास्तव में एक उदार, और क्रियाशील धर्ममत की विजय थी, जिसने तत्कालीन समाज में उनकी लोक-प्रियता और लोक के नेतृत्व की प्रतिष्ठा की। इस शास्त्रार्थ में आचार्य ने विष्णुस्वामी, रामानुज आदि सभी वैष्णव आचार्यों का सम्मान रखते हुए मायावाद का खण्डन किया था। मायावाद ने देश में जिस निष्क्रियता और नैराश्य का वातावरण फैला दिया था, उसका निराकरण कर श्री वल्लभाचार्य ने समस्त भारतीय समाज को एक नई जीवन-दृष्टि दी थी कृष्णदेव राय ने वल्लभाचार्य की अद्भुत सूझ, विद्वत्ता और प्रतिभा का सम्मान उनके 'कनकाभिषेक' से किया।

श्री वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' और भक्ति-पद्धति 'पुष्टि-मार्ग' कहलाती है। इन दोनों ही पक्षों को उन्होंने वैदिक साहित्य ब्रह्म सूत्र, श्री गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रबल आधारों पर प्रतिपादित करने के लिए विपुल साहित्य की सृष्टि संस्कृत भाषा मे की है। उनकी रचनाओं मे ब्रह्म-सूत्र पर 'अणुभाष्य', श्रीमद्भागवत पुराण के मुख्य भागों पर 'सुबोधिनी' टीका और 'तत्त्वदीप निबन्ध' और विशेषकर पुष्टि मार्ग के स्थापन के लिए छोटे-छोटे किन्तु अत्यन्त मार्मिक १६ ग्रंथ लिखे है। इनके अतिरिक्त, भी उनके अनेक स्तोत्र और पद्य है। श्री वल्लभाचार्य ने ५२ वर्ष की आयु मे काशी मे सं० १५८७ मे संन्यासावस्था में गगा-प्रवेश द्वारा भौतिक शरीर का परित्याग किया।

एक अखिल राष्ट्रीय प्रखर प्रतिभावान् लोकनायक के रूप में श्री वल्लभाचार्य का नाम भारत-निर्माताओं की श्रेणी में आता है। अपने उच्च मानवीय सद्गुणों—सर्व-भूत-हित, सहज करुणा, अभेद बुद्धि, आडम्बर हीनता, सत्य, अहिंसा और सर्वोपरि विश्व नियन्ता भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति के कारण उन्हे लोक ने ही 'महाप्रभु' का विरुद प्रदान किया था। वे विश्व के थे, इसलिए अग्नि जैसे विश्व के सब नरों की है। उसी प्रकार वे 'वैश्वानरावतार' कहे जाते थे।

उपास्य—श्री वल्लभाचार्य ने भारत की पुरातन संस्कृति के स्तम्भ कृष्ण की लोक देवता के रूप मे प्रतिष्ठा को पहचान कर उसे और भी सहज ग्राह्य, मानवीय धरातल पर लोक-प्रिय बनाया। उनके उपास्य यशोदोत्संग-लालित, नवनीत-प्रिय बालकृष्ण हैं। संसार मे ऐसा कौन जीव है, जिसे अपनी संतान से प्रेम न हो। विश्व मे कौन ऐसा मानव प्राणी है, जिसे कुसुम-कोमल, एकदम निष्कलुष, भोले भाले सुन्दर शिशु से सहज प्रेम न हो। यह थी श्री वल्लभाचार्य की अद्भुत मनोवैज्ञानिक सूझ बूझ। मानव की इस सहज मार्मिक भावना का उदात्तीकरण उन्होंने बालकृष्ण को लाड़ लड़ाने के माध्यम से किया है। सूर जैसी सहज कवि प्रतिभा को बालकृष्ण जैसा समर्थ और व्यापक वर्ण्य विषय देकर वल्लभाचार्य ने सारे विश्व को एक अनोखा उपहार दिया है। यदि वल्लभाचार्य बालकृष्ण के रूप मे सूर को जीवन की आनन्द और रसमयी दृष्टि न देते तो शायद वे 'सूर' होकर भी जीवन में 'घिघियाते' ही रहते। बालकृष्ण के सौंदर्य और लीला, के रूप मे उसके आस्वादक ब्रजमण्डल को ही क्यों समूची मानवता को वल्लभाचार्य की यह देन अमूल्य है।

प्रेम का उदात्तीकरण—यौवन के उद्दाम प्रेम-प्रवाह और उनके मिलन विरह की सहज मानवीय अनुभूतियों को एक उदात्त और पवित्र स्तर पर पहुँचाने मे भी वल्लभाचार्य ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रमाण दिया है। प्रेम के क्षेत्र में उन्होंने—"गोप्यः अस्माकं गुरुः" कहकर उन्हे अपना आदर्श माना है। आज के क्षुद्र-स्वार्थी और भोगवादी युग में प्रेम का ऐसा उदाहरण कल्पना से परे है। किन्तु क्रान्तदर्शी विश्व पुरुषों के लिए वह सत्य है। मनोविज्ञान अभी इसकी व्याख्या करने मे समय लगा रहा है कि 'क्या प्रेम भी गोपी-प्रेम जैसा केवल प्रदेय हो सकता है' ?

पूजा नहीं सेवा—वल्लभाचार्य जी नें बड़े मनोवैज्ञानिक आधार पर अपनी उपासना पद्धति में 'पूजा' या 'अर्चना' शब्द के स्थान पर 'सेवा' शब्द का प्रचलन किया। 'सेवा' शब्द से जो वैयक्तिक मानवीय सम्बन्ध व्यक्त होता है, निकटता, नि.संकोच, स्वछंदता ध्वनित होती है, वह प्रभुता के साथ जुड़े पूजा 'या अर्चना' शब्दों मे कहाँ ? इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने अपनी उपास्य प्रतिमाओं के लिए 'मूर्ति' शब्द का प्रयोग न करके 'स्वरूप' शब्द का प्रयोग किया, जो उस व्यक्ति का—भगवान् का—अपना ही मूल रूप है।

संगीत—अपनी उपासना मे संगीत के नित्य योग से उन्होंने मन के निरोध का जो मनोवैज्ञानिक अमोघ साधन अपनाया वह भी उनकी मौलिक, सार्वजनीन जीवन की गहरी पहचान का फल था।

श्री वल्लभाचार्य के आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व की कुछ झाँकी उनके पुत्र श्री गुसाँई विट्ठलनाथ जी ने उनके स्तवन मे रचित 'सर्वोत्तम-स्तोत्र' मे दी है। उसमें वल्लभाचार्य जी की परम कारुणिकता, महान् उदार चरित, जन-शिक्षार्थ कृष्ण भक्ति के प्रचार, स्वार्थ त्याग पूर्वक जन-सेवा, सत्य निष्ठा, और नैतिक मूल्यों के प्रति उनकी दृढ आस्था की बात कही है, जिनकी हमारे राष्ट्र को आज एकता, शक्ति, और अखण्डता के लिए नितान्त आवश्यकता है।

*

अष्टछाप की गायकी का वर्तमान स्वरूप

पुष्टिमार्ग के विभिन्न घरों की गायकी और उसकी वर्तमान स्थिति

ऋग्वेद और सामवेद की सहज संगीतात्मकता विश्वमानव के लिए भारत की प्राचीनतम उपलब्धि है। तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार देवताओं ने स्वर-प्रधान सामवेद का आश्रय लिया।[1] वैदिक ऋषि ने साम से परमतत्त्व का स्तवन किया।[2] श्रीकृष्ण ने गीता में 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (१०. २२) और 'बृहत्साम तथा साम्ना गायत्री छन्दसामहम्' कहकर मानो संगीत और उसके विविध छन्दः प्रबन्धों का ही महत्त्व-प्रतिपादन किया है। भारतीय संगीत के महान् आचार्यद्वय—मतंग (५-६ शती ई०) और निःशंक शार्ङ्गदेव (१३ वीं शती ई०) ने अपने प्रख्यात संगीत शास्त्र ग्रंथों में जगत् को नादात्मक और नादाधीन बताया है। नाद या ध्वनि से अकार ककारादि वर्ण व्यक्त होते है, वर्ण से 'घट' 'पट' आदि पद या शब्द बनते है, शब्दों से वाक्य रचना होती है, और वाक्यों से समस्त संसार का व्यापार-व्यवहार चलता है। अतः कहना चाहिए कि यह समस्त जगत् नाद के आधीन है। बिना स्वर के गीत, नृत्त की सत्ता नही। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और उनकी पराशक्ति नाद रूपा है।[3] नाद का सर्वाधिक महत्त्व-

---

१. देवा वै नर्चि न यजुष्यश्रयन्त। ते सामन्येवाश्रयन्त।

तैत्ति० संहि० २. ५. ७.

२. ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। वही, २. ५. ९.

३. नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।

वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥ सं. १. २. २.

न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वराः।

न नादेन विना नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत्॥

नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।

नादरूपा पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः॥

बृहद्देशी से स० रत्ना. सुधाकर १. २. में उद्धृत

पूर्ण स्थान संगीतशास्त्र मे प्रतिपादित है। प्रायोगिक सगीत के स्वरूपत: तीन अ ग हैं; गीत, वाद्य तथा नृत्त।[१] इन तीनो की नादाधीनता सहज सिद्ध है।[२] सगीत में गीत का प्राधान्य है। निःशंक शार्ङ्गदेव के अनुसार गीत की बडी महिमा है। 'गीत पुरुषार्थ चतुष्टय का साधन है। इससे सर्वज्ञ शिव प्रसन्न होते हैं। गोपीपति अनन्त (विष्णु या कृष्ण) वंश-ध्वनि के वश मे हैं! ब्रह्मा साम गान में रत हैं। सरस्वती वीणा-वादन में संलग्न है। फिर यक्ष, गन्धर्व, देव, दानव और मनुष्यो की संगीत में आसक्ति होने मे सदेह ही क्या है। पालने मे लेटे हुए जिस शिशु को इन्द्रियो के किसी विषय का अभी ज्ञान नही हुआ है, वह भी यदि रो रहा हो तो गीत के अमृत को पीकर उल्लसित हो उठता है। कैसी विचित्र बात है कि वनचारी, तृणाहारी हरिण का बच्चा भी व्याध (शिकारी) के संगीत से रीझकर अपने प्राण दे देता है। गीत के माहात्म्य को पूर्णतया कौन बता सकता है? धर्मार्थकाममोक्ष—इन चारो पुरुषार्थों का यही एक साधन है'।[३]

श्री वल्लभाचार्य जी भगवत्सेवा में 'यथा देहे तथा देवे' के निसर्ग सिद्ध नियम को मानते थे। उन्होने सृष्टि के समस्त उत्तमोत्तम ज्ञान, कला, पदार्थ और

---

१. गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते। सं.र. १. १. २१.
संगीत का प्राचीन नाम 'त्रिवृत्-शिल्प' है—त्रिवृत् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रं च।—शांखायन ब्राह्मण (२९. ५)

२. गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते। तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम्॥ सं.र. १. २. १

३. संगीतरत्नाकर १.१.२६-३०.
विशेष द्रष्टव्य—अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यंकिकागतः।
रुदन्गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥
वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्।
वही १ १ २७, २८

विभूतियों को भगवत्सेवा के साधन-रूप में ग्रहण करने का विधान किया है।[१] संगीत जैसी दिव्यकला को भी उन्होंने कीर्तन के रूप मे भगवत्सेवा के नित्य नैमित्तिक अंग के रूप मे स्वीकार करके वस्तुतः बडी उदात्त आध्यात्मिक भावना का परिचय दिया है। वैसे तो पुष्टिमार्ग के आधारभूत ग्रंथद्वय—श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण मे परमतत्त्व की प्राप्ति के साधन रूप में संगीतात्मक कीर्तन का स्पष्ट विधान किया गया है[२] और आपाततः वल्लभाचार्य जी ने उसी आधार पर अपनी सेवा-पद्धति में कीर्तन को अनिवार्य बनाया है। उनके बाद विट्ठलनाथ जी और उनके चतुर्थ पुत्र गो० गोकुलनाथजी ने पुष्टिमार्गीय सेवापद्धति का बहुत विस्तार किया।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा स्थापित 'अष्टछाप' भक्ति-संगीत के क्षेत्र में एक युगान्तकारी घटना थी। अष्टछाप के इन आठो महानुभावों का व्यक्तित्व त्रिआयामी है, जो इन्हे अन्य भक्तो या कवियो से एक पृथक् वैशिष्ट्य प्रदान करता है। ये तीन आयाम हैं; भक्ति, कवित्व और संगीत। इन महानुभावो के ये तीन आयाम युगपत् (साथ-साथ) जितने महत्त्वपूर्ण हैं, उतने ही महत्वपूर्ण पृथक् पृथक् रूप से भी हैं। भक्त और कवि होने के साथ अष्टछाप के महानुभाव अच्छे संगीतज्ञ भी हैं। संगीतशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली मे इनमें से कुछ को 'वाग्गेयकार' भी कहा जा सकता है। हिन्दी-

---

(१) श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यमात्र त्वभिचारहेतुः।
सेवैव तस्मिन्नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम् ॥
—पुष्टिआह्निकम् ॥२१०॥
द्रष्टव्य—यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥श्रीमद्भागवत : ११.११.४१.

(२) सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (गीता : ९.१४)
यहाँ 'सततम्'* क्रियाविशेषण अव्यय से जहाँ 'निरन्तरता' का भाव व्यक्त होता है, वही 'ततेन सहित सततम् यथा स्यात्तथा' विग्रह करने से 'ततं वीणादिकं वाद्यम्' 'वीणादि वाद्यो के साथ' कीर्तन करने की अर्थध्वनि भी निकलती है। कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥श्रीमद्भागवत १०.३.५१

काव्य-संसार के कुछ ही कवि-मनीषी इस उच्च विरुद के अधिकारी कहे जा सकते है, जो 'सूरदास, परमानन्ददास और गोविन्दस्वामी' को सहज सिद्ध था। सगीतशास्त्र मे 'वाक्' को 'मातु:' और 'गेय' को 'धातु:' कहा जाता है। जो व्यक्ति 'वाक्' और 'गेय' दोनों की रचना करने मे समर्थ हो, वही 'वाग्गेयकार' है।[1] वह अनेक दुर्लभ गुणों से युक्त होता है।[2]

अष्टछाप की गायकी

अष्टछाप की गायकी सीधे-सीधे ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर की ध्रुवपद और विष्णुपद गान परंपरा से सम्बद्ध है। भाषा, भाव, शैली सभी दृष्टियों से वह ग्वालियर की ध्रुवपद गायन-शैली से प्रभावित है। अष्टछाप के समकालीन ग्वालियर के तानसेन भी इसी परंपरा के हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने तानसेन के गायन की उत्तमता को स्वीकार करते हुए भी गोविंद स्वामी के कृष्णार्पित संगीत के समक्ष उसे 'दो कौडी' का समझा था। यही से अष्टछाप के संगीत की संज्ञा 'ध्रुवपद' मात्र नहीं अपितु 'कीर्तन' हो गई है। 'कीर्तन' या 'कीर्ति' एकार्थक शब्द है, जो 'कृत' संशब्दने (चुरादिगण १६५७ परस्मैपद सेट्) धातु के रूपान्तर 'कीर्त्' से निष्पन्न होते हैं।[3] कीर्तन का अर्थ है, उल्लेख करना, पुकारना, गायन करना, दुहराना, सुनाना, घोषणा करना, सदेश पहुँचाना, प्रशंसा करना, गुणगान करना आदि। भक्ति-शास्त्रों मे साधनभक्ति के ६४ अंगों में अर्चन, परिचर्या (सेवा) गीत, संकीर्तन, जप, विज्ञप्ति, स्तवपाठ और नैवेद्य तथा पाद्य का आस्वादन भी आता है।[4] पुष्टि

---

(१) वाङ् मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते।
वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः॥ सं. र ३.२.

(२) देखिये, संगीतरत्नाकर अध्याय ३.१-११.

(३) कृत-सशब्दने। उपधायाश्च (७-१-१०१) धातोरुपधाभूतस्य ऋत इत्स्यात्। र परत्वम्। उपधाया च (सूत्र २२६५) इति दीर्घः। कीर्तयति। (वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा टीका) अन्य प्रयुक्त सूत्र-अतियूति-जुति......कीर्तयश्च (३२७४) ३.३।९७. उऋृत् (अष्टाध्यायी ७ ४.७) ऋत इद्धातोः (सूत्रांक २३९०)

(४) अर्चनं परिचर्या च गीतं संकीर्तनं जपः।
विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः॥ ह.भ.र.सिं. पूर्वभाग, लहरी २.

मार्ग में भी इनका ग्रहण है। चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण 'सकीर्तन' शब्द अब केवल भगवान्नाम की संगीतमय आवृत्ति के लिए रूढ हो गया है, किन्तु वस्तुत: संकीर्तन मे तीन अंग हैं नाम-कीर्तन, लीला-कीर्तन एव गुण-कीर्तन। पुष्टिमार्ग में गीत[1] के माध्यम से लीला-कीर्तन और गुण-कीर्तन को विशेष स्थान दिया गया है। संगीत के साथ नाम, लीला और गुणादि का उच्च स्वर में कथन करना ही वस्तुतः कीर्तन है,[2] और अष्टछाप के संगीत मे वही होता है।

वि० सं० १६४० में गोस्वामी विट्ठलनाथजी (१५७२-१६४४ वि०) ने अपने सात पुत्रों को नित्य नैमित्तक सेवार्थ सात भगवत्स्वरूपो को सौप दिया। पुष्टिमार्ग में विट्ठलनाथजी के इन सात पुत्रों के ही 'सात घर' और इनके सेव्य-स्वरूप ही सात निधि कहलाते है। वे हैं—

---

(१) ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गीतमानोऽनिश परम्।
हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिक भवेत्॥
ह० भ० र० सि, लहरी २ में लिगपुराण से उद्धृत
श्रीमद्भागवत में अनेकशः गानमय नाम, लीला और गुण-कीर्तन का आग्रह किया गया है—

(२) नाम लीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम्। वही, श्लोक. २९

(अ) इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयो.।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥
१.५.२२

(आ) नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते।
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन्गुणान्दशशताननआदिदेवः।
शेषोऽधुनाऽपि समवस्यति नास्य पारम्॥ २.७.४१

(क) श्री गुसाईं जी की सेवा को प्रकार सब घरन मे वर्तमान है।'
वल्लभपुष्टिप्रकाश, प्र. भाग, पृष्ठ ११.

(ख) कोई कोई सेवा की रीति भाँति मे अन्तर पड़े है। ताको कारण यह है, जहाँ जो स्वरूप विराजैं तिनकी लीला की भावना सों सेवा होय है। कही नन्दालय की लीला है, कहीं निकुंज की लीला है।'
वल्लभपुष्टिप्रकाश, प्रथम भाग, पृ० ५.

	गृहाधिपति-नाम	सेव्यस्वरूप-नाम	स्थान-नाम
१	श्री गिरिधर जी	श्री मथुरेशजी	जतीपुरा (गोवर्धन, ब्रज)
२.	श्री गोविन्दराय जी	श्री विट्ठलनाथजी	नाथद्वारा (मेवाड राजस्थान)
३	श्री बालकृष्णजी	श्री द्वारकेशजी	कांकरोली (राजस्थान)
४.	श्री गोकुलनाथजी	श्री गोकुलेशजी	गोकुल (ब्रज)
५.	श्री रघुनाथजी	श्री गोकुलचन्द्रमाजी	कामवन (ब्रज)
६	श्री यदुनाथजी	श्री बालकृष्णजी	सूरत (गुजरात)
७.	श्री घनश्यामजी	श्री मदनमोहनजी	कामवन (ब्रज)

इन घरों, उनसे सम्बद्ध, उनसे सञ्चालित और उनके वंशजों द्वारा अद्यावधि स्थापित पुष्टिमार्गीय मंदिरों की कीर्तन-सेवा-पद्धति बिलकुल समान है[1] केवल स्वरूप भावना से कुछ अन्तर है। पुष्टिमार्ग के श्रद्धालु मर्मज्ञ श्री द्वारकादास परीख ने सं० २०३० में अनुमान किया था कि पुष्टिमार्ग के समाज-गत मंदिरों की संख्या ५ हजार होगी और व्यक्तिगत घर-मंदिरों की संख्या इससे कई गुनी होगी।[2] इन पंक्तियों के लेखक के पुराने घर में भी एक सौ वर्षोंसे भी अधिक समय मे पुष्ट श्री 'गोवर्धननाथजी' का स्वरूप विराजित है, किन्तु जो शोधार्थी धर्म, संस्कृति या कला के क्षेत्र में कार्य करना चाहते हैं, उनके लिए आज भी ऐसी कोई प्रामाणिक निर्देशिका (डाइरेक्टरी) नहीं है, जिससे उन्हें अष्टछाप की गायकी के माध्यम से कीर्तन-सेवा मंदिरों की सूची मिल सके। मैंने गत ३-४ मासों मे कलकत्ता, पूना, इन्दौर, हरिद्वार, वृन्दावन, मथुरा आदि मे अनेक लोगों से कीर्तन सम्बन्धी जिज्ञासाएँ कीं, मंदिरों की प्रामाणिक संख्या जाननी चाही, किन्तु कही से कोई विश्वसनीय सूचना नहीं मिली। बहुत भटकने पर जो कुछ जान सका उससे इतना कहा जा सकता हैं कि कश्मीर, असम और केरल को छोड़कर प्रायः सभी प्रान्तो में पुष्टिमार्गीय मंदिर हैं। इनमें भी गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश मे ही उनकी बहु संख्या है। इन मंदिरों की भी दो श्रेणियाँ हैं। १—शुद्ध पुष्टिमार्गीय २—मर्यादामार्गी मिश्रित पुष्टिमार्गीय। प्रथम श्रेणी के मंदिरो मे परपरागत सेवा-विधि का

---

(१) 'और बोहोत करकें सातो घरन की प्रनालिका तो एक ही है।'
वही. पृ० ४.

(२) दे० पुष्टिपाथेय, पृ० ५६. (पुष्टिमार्ग का स्वरूप, द्वारकादास परीख)

दृढ़ता से पालन होता है। द्वितीय श्रेणी के मंदिरों मे सेवा-विधि मे सुविधानुसार थोडी छूट की सी स्थिति का अनुभव मुझे हुआ। नाथद्वारा मे श्रीनाथ जी और मुख्य सात-आठ पूर्वोक्त घरो के सभी मंदिरों मे आठों दर्शनो मे कीर्तन-संगीत होता है, किन्तु अन्य मंदिरों में पूरे आठ दर्शन नहीं होते। कही ६, कही ५, कही ४ दर्शन ही होते है। जितने दर्शन होते है, उन्ही के साथ कीर्तन-गायन होता है। नित्य-सेवा के अतिरिक्त श्रावण-शुक्ल ५ (नागपंचमी) और जन्माष्टमी की बधाई से आरम्भ कर रक्षाबन्धन और भाद्रपद कृ० ७ छठी के उत्सव तक वर्षोत्सवों में आते है। इनमें कृष्ण, राम, नृसिंह और वामन की ४ मुख्य जयन्तियाँ, राधाष्टमी तथा श्रीवल्लभाचार्यजी के वंशजों की जन्मतिथियाँ, पाटोत्सव आदि शताधिक उत्सव, मनोरथ, छप्पनभोग, कुनवाड़ा, अन्नकूट आदि, होली, दीवाली, दशहरा, रक्षाबन्धन आदि लोक पर्वों पर कीर्तन-गायन तत्‌ अवसर और भगवल्लीला के अनुसार होता है। पुष्टिमार्ग मे वर्ष के ३६० दिनों मे से प्रत्येक दिन की राग, भोग और शृंगार सेवा नियत है।

गायकी का कलात्मक स्वरूप—

जहाँ तक अष्टछाप की गायकी के कलात्मक स्वरूप का सम्बन्ध है, वह प्राचीन ध्रुवपद और धमार शैली मे आबद्ध है, किन्तु प्रारंभ से ही अष्टछाप के गायकों मे भक्ति-भावना का प्राबल्य रहने के कारण ध्रुपद-धमार की शास्त्रीय और कलात्मक विशेषताओं को उजागर करने की अपेक्षा उनमे इष्ट के गुण और लीला की भावना से तादात्म्य स्थापित करने का आग्रह अधिक है। आज की अष्टछाप गायकी मे तो हमें शास्त्रीय और कलात्मक पक्ष के ह्रास के साथ अध्यात्मभाव का भी अभाव दिखाई देता है। मंदिरो में कीर्तनगायन एक औपचारिकता और जड नियम पालन मात्र होकर रह गया है। मंदिरो में अच्छे जानकार कीर्तनियो का अभाव होता जा रहा है। एक पुष्टिमार्गीय हवेली मे यह भी सुनने को मिला कि कीर्तन-गायन के सहायक-वाद्य, तानपूरा और मृदंग तक अनुपयोगी होने के कारण बिक गये है। मंदिर में कीर्तन-सेवा बन्द हो गई है। यह युग संगीत के क्षेत्र में अब फिल्म-संगीत का युग है। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र मे भी खयाल, ठुमरी और दादरा का बोलबाला है। पुष्टिमार्ग के अनेक गोस्वामि-बालक स्वयं खयाल गायन सीखने लगे है। उनका विचार है कि कालक्रम से इन मंदिरों के कीर्तन में खयाल-गायकी घर कर जायगी।

बम्बई के श्रीमुकुंदराय जी खयाल-गायकी में उस्ताद अमीर खाँ के शिष्य हैं। इन्दौर के श्री गोकुलोत्सवजी भी दक्ष खयाल-गायक है। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं उनका संगीत सुना है, जो खयाल-शैली में है। अभी हाल ही में श्री विष्णुराजाजी ने अहमदाबाद में परम्परागत कीर्तन के कुछ टेप कराये हैं, किन्तु जब तक ध्रुव पद शैली का शुद्ध नियमानुसार शिक्षण न हो, तब तक इस गायकी के कुछ टेप कराकर रख लेने से उसका संरक्षण संभव नहीं है। काशी के गोपाल-मंदिर में हवेली संगीत (पुष्टिमार्गीय कीर्तन) सिखाने की व्यवस्था थी। आजकल भी वह प्रचलित है या समाप्त हो गई, पता नहीं।

अष्टछाप की जिस गायकी को अनेक गोस्वामियों—यथा सर्वश्री गोवर्धन लालाजी, दामोदरलालजी (नाथद्वारा) द्वारकेशलालजी (मथुरा) माधव गोस्वामीजी (मथुरा) गिरिधरलालजी (इन्दौर) ब्रजभूषण लालजी (काँकरौली) ब्रजरत्नलालजी (सूरत) आदि ने समृद्ध किया है, उसके संरक्षण का अब सजग प्रयत्न आवश्यक है। अभी हाल में प्रसिद्ध कंठ संगीतज्ञ प० जसराज के स्वर मे सूर के पदों का एक रिकार्ड कराया गया है, किन्तु ध्रुवपद अंग की गायकी उसमे नहीं आ पाई। गमक के स्थान पर मुरकियाँ आ गई हैं जो ध्रुवपद गायन शैली से मेल नहीं खातीं। ध्रुपद शैली की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं।[1] इसमें तानों का प्रयोग न होकर दुगुन, चौगुन, तिगुन, आड़ जैसी लयों का प्रयोग, उनकी तिहाइयों और स्वरों की गमक[2] का प्रदर्शन होता है। स्वरों की स्थिरता, आलाप का विस्तार, कंठ की स्वायत्तता, जिससे स्वेच्छा से स्वर-गांभीर्य, स्वर-स्थैर्य, स्वर-चापल्य, स्वरकम्प, स्वरान्दोलन और मींड उत्पन्न की जा सके, ध्रुवपद शैली की मूलभूत विशेषताएँ हैं। ग्वालियर घराने की खयाल गायकी में तो पहले ध्रुवपद अंग का शिक्षण अनिवार्य माना

---

(१) गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम् ।
द्विचतुर्वाक्यसम्पन्नं नरनारीकथाश्रयम् ॥
शृंगाररसभावाढ्यं रागालापपदात्मकम् ।
पादान्तानुप्रासयुक्तं पादान्तयुगकं च वा ॥
प्रतिपादं यत्रबद्धमेवं पादचतुष्टयम् ।
उद्ग्राहध्रुवकाभोगान्तरं ध्रुवपदं स्मृतम् ॥
अनूपसंगीतरत्नाकर (ध्रुवपद प्रकरण)

(२) स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृचित्तसुखावहः ॥ सं०र. ३.८७.

जाता है जिससे गायक को पूर्ण कुशलता प्राप्त हो सके। ध्रुपद गायन की चार कड़ियाँ विकसित हुई थी (१) गउहरहारी (२) डागुरी (३) खडारो (४) नौहारी। संगीत रत्नाकर मे ५ गीतियों का उल्लेख है।

कुछ संगीत-तत्त्वज्ञों का अनुमान है कि इन ध्रुवपद वाणियों का सम्बन्ध इन गीतियो (गीत शैलियो) से है। गौडी ही कालान्तर मे 'गौरहारी' होगई है। अनुमान निराधार नहीं लगता क्योकि इन वाणियो की जो विशेषताए है, वे ही प्रायः शुद्धा, गौडी आदि गीतियो की है, यथा शुद्धा गीति अवक्र और ललित स्वरयुक्त होती है। भिन्नागीति वक्रस्वरो, सूक्ष्म और मधुर गमको से युक्त होती है। गौडी गीति प्रगाढ, तीनो सप्तको की गमक, नौहारी मन्द स्वर युक्त होती है। वेसरागीति, वेगयुक्त स्वरों के प्रयोग वाली होती है। अन्तिम और पाँचवी गीति 'साधारणी' है, जिसमे पूर्वोक्त चारों गीतियाँ के लक्षणों का मिश्रण है। गउहरहारी वाणी का उत्पत्ति स्थान ग्वालियर है। कुछ संगीत-मर्मज्ञ गउहरहारी या गौरहारी को 'ग्वालियरी' का ही रूपान्तर मानते हैं।[२]

हमारा मत है कि अष्टछाप की ध्रुवपद गायकी गउहरहारी वाणी का आधार लिये हुए है। इस वाणी का प्रमुख लक्षण ऋजुता और प्रासादिकता है। धीर गति युक्त यह वाणी शान्तरस की निष्पत्ति का माध्यम है। स्पष्ट है कि भक्तिमय अष्टछाप की गायकी मे यह गुण आद्योपान्त ओतप्रोत है। खण्डारी वाणी मे वेग और वैचित्र्य हैं। डागुरवाणी मे लालित्य और स्वरों की वक्रता है। नौहारी वाणी में सिंह की गति का भाव और स्वरों के उल्लंघन से विस्मय की सृष्टि होती है। यदि चारों वाणियो की विशेषताओं का सम्मिश्रण करके ध्रुपद गायन की कोई शैली आविष्कृत की जाये तो वह प्राचीनकाल की 'साधारणी' गीति से बहुत कुछ मिलती जुलती होगी। ध्रुपद

(१) गीतयः पंच शुद्धा च भिन्ना गौड़ी च वेसरा।
साधारणीति,......। सं र. २. रागविवेकाध्याय. २.

(२) दे०: 'संगीत' मासिक, ध्रुपद और उसकी चार वाणियाँ (शिवकुमार मिश्र) अगस्त १९८१.

गायकी की तालें भी विशिष्ट हैं ।[1] मुख्यतया चौताल (१२ मात्राएँ) में ध्रुपद गाये जाने के कारण चौताल का नाम भी 'ध्रुपद ताल' हो गया है । बोल हैं–

१ २ | ३ ४ | ५ ६ | ७ ८ | ९ १० | ११ १२ |

धा धा । दिं ता । तिट धा । दिं ता । तिट कत । गदि गिन ।

× ० २ ० ३ ४

होली गीत धमार ताल (१४ मात्रायें) में गाये जाते हैं । इसके बोल हैं—

क धि ट धिट । धा—। ग दि न । दि न ता — ।

१ २ ३ ४ ५ | ६ ७ | ८ ९ १० | ११ १२ १३ १४

० × २ ० ३

इन तालों के बोल खुले हाथ से बजते हैं और प्रमुखतया मृदंग या पखावज ही इसके लिए उपयुक्त आनद्ध (चर्मबद्ध) वाद्य है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जब तक इस विधा के संरक्षण की ओर पुन. ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक इस अष्टछाप गायकी का विकास तो दूर, इसका रहा सहा खण्डित प्रासाद भी भूमिसात् होने की अनुदिन प्रक्रिया में आ गया है । हाल ही में जब मैंने वृन्दावन में अठखंभा स्थित पुष्टिमार्गीय सत्यनारायण मन्दिर के ८२ वर्षीय कीर्तनकार पं० रामप्रसाद शर्मा (कामवन निवासी) से अष्टछाप की गायकी की वर्तमान दशा और उसके भविष्य के सम्बन्ध में एक साक्षात्कार किया तो बोले, "समय का परिवर्तन लावैगो, हम नाँय जानें, पर स्थिति कछु अच्छी नाय है । कोई सीखँहू नाँय, सब अताई काम चल रह्यौ है । जानकार धीरैं-धीरैं खतम है रहे हैं । लोगन में भाव नहीं रह्यौ । कीर्तन तो भाववृद्धि के लिए कियौ जाय है ।" मुझे लगा इस वयोवृद्ध गायक के नेत्र सजल हो गये हैं । वास्तव में यदि हमें स्वनामधन्य चन्दनजी

(१) एकताल (१२ मात्राएँ) झपताल (१० मात्राएँ) सूल ताल या सूलफाक (१० मात्राएँ) आड़ा चौताल (१४ मात्राएँ) झूमरा (१४ मात्राएँ) ब्रह्मताल (२८ मात्राएँ) रुद्रताल (११ मात्राएँ)

चतुर्वेदी जैसे सगीत-महर्षियों और संगीत के मन्त्रद्रष्टा मानसिंह तोमर जैसे राजर्षियो की स्मृति को जीवित रखना है तो ध्रुवपद गायकी में काल-क्रम से प्रविष्ट हुए अरजकता, यान्त्रिकता जैसे दोषों को दूरकर उसमे सच्ची स्वर-साधना जन्य आध्यात्मिकता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी होगी। सगीत से बढकर भगवत्प्रीतिकर कुछ नहीं—

पूजाकोटिगुणं ध्यान ध्यानात्कोटिगुणो जपः।
जपात् कोटिगुण गानं गानात् परतर नहि ॥[१]

कीर्तन चाहे किसी पद्धति मे हो, वह भगवान् की 'परा मानसी' सेवा है।

विद्यार्थी एवं अध्यापक

आज हमारे राष्ट्र पर जितनी अधिक दिशाओं से जितने प्रकार के छोटे और बड़े संकट छाये हुए हैं, उतने सम्भवतः पिछली कई शताब्दियों से इस देश को नही सहने पड़े। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक सभी क्षेत्रों मे आपत्तियों की बाढ आई हुई है। इन क्षेत्रों में से किसी एक का भी विस्तृत और सूक्ष्म अन्वेषण करने पर तो बुद्धि और हृदय दोनो ही कॉप जाते हैं। क्या हो गया है, क्या हो रहा है और क्या होगा इस उज्ज्वल अतीत और परम्पराओं वाले देश का ? क्या हमारे इस दिगत व्यापी पतन का अन्त कहीं कभी होगा ? आज प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमी जिम्मेदार भारतीय नागरिक इस प्रश्न को लेकर व्याकुल है। जितना ही हम किसी असामाजिक, अराष्ट्रीय कार्य एवं प्रवृत्ति को रोकते हैं, उसका उतना ही दुर्भाग्यपूर्ण विस्तार देखने को मिलता है। भ्रष्टाचार को रोकने के लिये जो उपाय और साधन अपनाए जाते हैं, हमारे यहाँ का कुशाग्र-बुद्धि भ्रष्टाचारी तुरन्त उसका 'एण्टीडोट' तैयार कर लेता है। ज्यों-ज्यो दवा की जाती है त्यों-त्यों मर्ज बढता जा रहा है। राष्ट्रजीवन का कोई कोना अब इस भ्रष्टाचार के दैत्य के आतंक से अछूता नही है। ज्ञान और विद्या के पवित्र शिक्षा-क्षेत्र में भी इस दानव ने पैर पसारे हैं, इससे बढ़कर किसी राष्ट्र के दुर्भाग्य की कोई सीमा नहीं हो सकती। किन्तु इस विषम परिस्थिति से उबरने का उपाय क्या है ? आइये, यहाँ पहले अपने ही कार्य-क्षेत्र शिक्षा-विभाग में इसके मूल कारण और इसका निदान खोजें।

शिक्षा विभाग के दो आधार स्तम्भ हैं :

(१) शिक्षक (२) विद्यार्थी

शिक्षा विभाग अक्षर-ज्ञान कराने वाली प्राइमरी शिक्षा से उच्चस्तरीय शोध की विस्तृत सीमा तक फैला हुआ है। इस विभाग के जीवन व्यापी विस्तार से ही इसके महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में समस्त मानव-जीवन की आधार भूमि यही है। विद्या और ज्ञान ही तो हमारे दो नेत्र

है जिनसे हमें यथार्थ दर्शन होता है। आज जब शिक्षा-विभाग के कर्णधार अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही अपने शुद्ध-स्वरूप से वंचित हो गए है तो किसी राष्ट्र का शुद्ध वर्चस्व कैसे प्रकट हो ? शुद्ध-स्वरूप से वंचित होने और अपने उदात्त चरित एवं गौरवमय पद से गिरने का सूत्रपात भी पहले अध्यापक वर्ग ने किया है। स्वयं अध्यापक होने पर भी इस दुःखमय किन्तु कटु और तीक्ष्ण सत्य को स्वीकार करने और सबके सामने कहने मे मुझे कोई संकोच नहीं है। अध्यापक प्रायः सदा अपने छात्र से (ज्ञानवृद्ध नही तो कम से कम) वयोवृद्ध तो होता ही है। जीवन की इस गम्भीर धारा मे वह छात्र से पहले डूबता उतराता है। सांसारिक गुण-दोषो के अक्षय-भण्डार से पहले उसका परिचय होता है, उसके छात्र का नही। इन गुण दोषों से पहले वह प्रभावित होता है, उसका छात्र नही। ऐसी स्थिति मे यदि अध्यापक महोदय मे सत् और असत् के संग्रह और त्याग का विवेक नहीं है और जीवन के अतल गम्भीर समुद्र से वे मोतियों के साथ खाली सीपें, शंख और घोंघे भी भर लाते हैं तो वे अपने विद्यार्थियों को भी जीवन भर इन्ही का वितरण करते रहेगे। उनके आचरण से उनके विद्यार्थी अनिवार्य रूप से प्रभावित होते रहेंगे :—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

गीता मे श्रीकृष्ण ने जिज्ञासु अर्जुन से कहा है कि 'श्रेष्ठ (गुण अथवा आयु मे बड़ा) पुरुष जो आचरण किया करता है, अन्य साधारण लोग भी वैसा ही करने लगते हैं। वह श्रेष्ठ पुरुष जो प्रमाण या आदर्श उपस्थित कर देता है, लोक उसी का अनुसरण करने लगता है। जब तक अध्यापक निरन्तर यह ध्यान नहीं रखता है कि उसके छोटे से छोटे क्रियाकलाप, वार्तालाप एवं व्यवहार का उसके छात्रो पर व्यक्त और अव्यक्त प्रभाव पड रहा है, तब तक वह अपने आचरण के प्रति सजग और सावधान नही रह सकता।

हम सदा विद्यार्थियो से ही अनुशासनहीनता की शिकायत करते हैं, क्या अनुशासन पालन करने का कर्तव्य केवल विद्यार्थियों का ही है ? क्या अनुशासन शारीरिक क्रियाओं के विधि-निषेध का ही नाम है ? हड़ताल करना, कराना, तोड-फोड करना, नारे लगाना अथवा यौवन के उन्माद मे हिंसात्मक कार्यवाही करना मात्र ही अनुशासनहीनता नही है। बल्कि जिस अव्यवस्थित,

अनियन्त्रित बुद्धि और हृदय की हलचल से ये राष्ट्रघाती कार्य उत्पन्न होते हैं, वही वस्तुतः अनुशासनहीनता है। आज प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमी अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह गम्भीर-चिन्तन सहित, शुद्ध, बुद्धि-युक्त एवं राग-द्वेष से रहित होकर तरुण हृदय और शक्ति के अजस्र स्रोत और राष्ट्र की वास्तविक सपत्ति, विद्यार्थियों की समस्याओ का अध्ययन कर यथाशक्ति उनका समाधान करें। विद्यार्थियो की अनेक समस्याएँ है—आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि। मुझे अपने अध्यापन काल के ३१ वर्षों के अनुभव के आधार पर यह कहने मे कोई सकोच नहीं है कि प्रायः ९०% छात्र अच्छे होते है। उनमें एक भोलापन होता है, जो गुरु की आज्ञापालन की ओर उन्मुख होता है। हाई-स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक के अपने छात्रों से मुझे यही अनुभव हुआ है। विद्यार्थी आपकी सच्ची सहानुभूति और स्नेहपूर्ण निष्कपट व्यवहार का भूखा है। उसे बस, यह विश्वास हो जाय कि उसका अध्यापक उसका सच्चा शुभचिन्तक है, फिर वह उसके एक शब्द पर प्राण निछावर करने के लिए उद्यत हो जायेगा। अनुशासन पालन की तो बात ही क्या है ? छात्र के साथ मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यवहार करने वाला अध्यापक कभी असफल नही हो सकता। अपितु वह छात्रों में छिपे हुए अपार उत्साह, बल और जीवनी-शक्ति को अनेक विध राष्ट्र और समाजोपकारक कार्यों मे प्रयुक्त कर सकता है।

आज की व्यापक अनुशासनहीनता के लिए हम अपनी पाश्चात्य पद्धति पर ढली हुई शिक्षा-सरणि को भी बहुत कुछ उत्तरदायी पाते हैं। आज पुनः विचार शील और गम्भीर राष्ट्रहित-चिन्तक लोग शिक्षा मे नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। भारतवर्ष सदा से विश्व-बन्धुत्व, सहिष्णुता, करुणा, परोपकार और इन्द्रिय-निग्रह के उच्चतम आदर्शों की भूमि रहा है। हमारे यहाँ सभी क्षेत्रों में एक से एक ऊँचे आदर्श महापुरुषों की अखण्ड परम्परा रही है। तरुण छात्रों के निर्मल और संवेदनशील मन पर उनके चरित्र-चित्र अंकित होने चाहिए। नवीनवय एव उत्फुल्ल विकासमय व्यक्तित्व के धनी छात्रों की सहज प्रसन्नता के लिए उन्हे आमोद-प्रमोद के साधन उपलब्ध होने चाहिए। जीवन के सघन और तरल दोनों पक्षों का उचित समन्वय होने के उपरान्त ही छात्रो का तेजस्वी स्वरूप उभरेगा। अपनी मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, संस्कृति और राष्ट्र के गौरव चिह्नों के प्रति उनके हृदय मे आस्था एवं श्रद्धा उत्पन्न करना सच्चे अध्यापक

का कार्य है। हमें छात्रों को समझाना है कि विदेशों की निष्प्राण नकल न करके हमे उनके राष्ट्रीय-चारित्र्य, ईमानदारी, परिश्रम और सौन्दर्य-प्रेम को सीखना है। विश्व की समस्त गतिविधियों, परिवर्तनशीलता, ज्ञान-विज्ञान के नये आयामों और इनके कारण निर्मित हो रही एक नयी दुनिया की चेतना उनमें जगानी ही पड़ेगी। जब छात्र अपने व्यक्तित्व के संकुचित घोंघे से निकलकर जीवन-सागर में उन्मुक्त संतरण करने लगेगा तो अनुशासनहीनता स्वतः तिरोहित हो जायेगी। एक वृहत् जीवन के निर्माण मे लगे इस जिज्ञासु को फिर इन छोटी-छोटी खुराफात के लिए फुरसत कहाँ होगी ? किन्तु यह सब होगा सच्ची सहानुभूति, विद्वत्ता और स्नेहतरल अन्तःकरण के धनी अध्यापक के ही सहयोग से, जिसकी आज के संघर्षों से जूझते, बेचैन छात्र-समाज को प्रतिपल आवश्यकता है।

और अन्त मे एक बात और, जो शायद सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। अध्यापकत्व तत्वतः धनोपार्जन या भौतिक सम्पदा जुटाने के लिए अपनाये गये अन्य व्यवसायों की तरह कोई व्यवसाय या 'प्रोफेशन' नहीं है। यह एक समग्र जीवन-दर्शन और जीवन-पद्धति है, जिसकी अपनी प्रतिबद्धता और अपना रस है। जो लोग पूरी आस्था, सजगता और रुचि से इसे चुनते हैं, फिर वे कभी किसी पद या पदार्थ की भौतिक चकाचौंध से न तो प्रभावित होते हैं, और न पछताते है कि 'हाय यदि हम भी कलक्टर, डाक्टर या इंजीनियर बनते तो क्या-क्या हुकुम न चलाते, क्या-क्या सुख सामग्री न बटोरते'! किन्तु अध्यापक का आनन्द इन सबके स्रष्टा का आनन्द है। अध्यापक का 'महतो महीयान्' पद प्रचंड निःस्पृहता और निःसंगता की अपेक्षा रखता है। ऐसा अध्यापक ही आज के दिशाहीन, विक्षुब्ध विद्यार्थी-समाज का सही मार्ग-दर्शन कर सकता है।

•

कला और संस्कृति

'कला' और 'संस्कृति' शब्द आजकल बहुत प्रचार मे है। समाज में अच्छी रुचि के लोग इन दोनों की ओर बढ़ते हुए भी दिखाई देते हैं। आधुनिक समाज में कला और संस्कृति के प्रति सजग होना एक विशेष ऊँचे स्तर का प्रमाण माना जाता है। कला और संस्कृति की ओर विशेषकर पहले तो विद्वानों, दार्शनिकों और कलाकारो का ही ध्यान जाता था, वे लोग ही इनके स्वरूप और लक्षणों पर विचार करते थे। किन्तु अब नई पीढ़ी का ध्यान भी कला और संस्कृति की ओर जाने लगा है और नवयुवक नवयुवतियाँ भी गम्भीरता से कला और संस्कृति के विश्लेषण की ओर झुकने लगे हैं। निश्चय ही यह प्रगति और विकास का एक प्रमाण है। वास्तव मे कला और संस्कृति क्या है, इसके विवेचन के लिए गहन चिन्तन आवश्यक है।

संस्कृति और कला मनुष्य की विकास-यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं जो कभी तो इसके सम्बल का रूप धारण करते है और कभी लक्ष्य का। जहाँ तक संस्कृति शब्द का सम्बन्ध है, यह कोई बहुत पुराना शब्द नहीं है और पुराने साहित्य में इसका प्रयोग भी नही मिलता। व्याकरण से तो इस शब्द की सिद्धि हो जाती है और यह 'कृ' धातु में 'सम्' उपसर्ग जोड़ने से सिद्ध होता है। किन्तु जहाँ तक संस्कृति शब्द के प्रयोग का सम्बन्ध है यह अंग्रेजी भाषा के Culture शब्द के समानान्तर गढ़ा गया है। संस्कृत मे पुराना शब्द 'संस्कार' है जिसकी व्युत्पत्ति भी सम् उपसर्ग और कृ धातु से है, किन्तु संस्कृति और संस्कार शब्द आज भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि दोनों शब्दों का शाब्दिक अर्थ एक ही है और वह है 'स्वच्छ करना', 'ठीक क्रिया करना।' आज संस्कृति शब्द मानव समाज की लम्बी विकास यात्रा मे जो आन्तरिक परिष्कार हुआ है, जीवन मे जो ऊँचे आदर्श, मूल्य (Values) आये हैं और रुचियों में जो सुधार हुआ है और मनुष्य ने अपनी रचनात्मक प्रकृति से जो-जो कार्य किये हैं उसका बोधक है, अथवा जिन सुन्दर वस्तुओं का निर्माण मानव ने किया है, वे उसकी संस्कृति के उदाहरण माने जाते है।

इस प्रकार सम्यक् कृति ही संस्कृति है। श्रेष्ठ कृति ही सम्कृति है, चाहे वह मानमिक हो अथवा स्थूल पदार्थ के रूप मे। सस्कृति शब्द के साथ एक और शब्द चलता है, 'सभ्यता' जिसे अंग्रेजी के Civilization शब्द का समानार्थक माना जाता है, और अरबी का 'तहज़ीब' शब्द भी उसका अर्थ देता है और जो सस्कृति के अर्थ को भी समेटे हुए है।

पाश्चात्य चिन्तन ने कुछ वर्षो से 'सभ्यता' और 'संस्कृति' शब्दो की हमारी अर्थ चेतना को प्रभावित किया है और दोनो के पार्थक्य को स्पष्ट करने का भारी प्रयत्न किया है। किन्तु प्राचीन संस्कृत-साहित्य मे 'कल्चर' के आधुनिक-अर्थ में 'सस्कृति' शब्द का प्रयोग नही मिलता। जिन उच्च मानवीय सदाचारो, सद्‌गुणो और परम्परागत शिष्टाचरण के लिए आज हम पाश्चात्य प्रभाव के कारण 'कल्चर' के समकक्ष 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग करते है, उन सबके लिए भी भारत का प्राचीन शब्द 'सभ्यता' ही है। 'सभा' अर्थात् जन-समुदाय, मानव-समाज। समाज मे उचित रीति से व्यवहार करना ही 'सभ्यता' या 'सभ्यत्व' है। 'सभा' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में है। जो व्यक्ति समिति या 'संसद' 'सभा' में उठने बैठने का शिष्टाचार, तौर तरीके जानता था उसके लिए वैदिक-साहित्य मे 'सभेय' शब्द का प्रयोग हुआ है— 'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्'। वाजसनेयी यजुर्वेदीय सहिता, २२.२२) अर्थात् 'हे सर्वशक्तिमन् प्रभो, आपके आराधक इस राष्ट्र का युवक वीर और सभ्य हो।) 'सभेय' का ही समानार्थक 'सभ्य' शब्द है, जो थोडा परवर्ती है। 'सभा' शब्द मे 'य:' प्रत्यय लगने से 'सभ्य.' शब्द सिद्ध होता है। कालिदास ने 'कुमारसभव' मे 'सभ्य' और 'सभा' शब्दों का प्रयोग किया है। 'सभ्य: सभायां सुहृदास्थितायां तस्थौ वृषाकागमनप्रतीक्ष:। (७.२९) अर्थात् 'पार्वती के पिता हिमालय जो सभ्य (शिष्टाचारी) हैं, अपनी उस सभा मे जाकर शिव की प्रतीक्षा करने लगे, जिसमे उनके हितैषी बन्धु बान्धव बैठे हुए थे'। अमरकोष मे सदाचारी, कुलीन, शिष्ट मनुष्यों के लिए जो छह पर्याय दिये गये हैं, उनमें 'सभ्य' शब्द भी है—

महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधव: ॥

(अमरकोष २.६.३.) महाकुल, कुलीन, आर्य, सभ्य, सज्जन और साधु सब शब्द एकार्थक हैं, और उस सदाचारी, शिष्टाचरणवान्, सुसस्कारयुक्त व्यक्ति का बोध कराते हैं जिसे आज की भाषा में हम सुसस्कृत, कल्चर्ड या

'वेलबिहेव्ड' कहते है । किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि हमारे प्राचीन साहित्य में उस अर्थ में 'सभ्य' शब्द ही है, जिससे भाववाचक संज्ञा शब्द 'सभ्यता' बनता है । जिस व्यक्ति में आचरण की शिष्टता नही, सदाशयताजन्य सद्व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं, वही 'असभ्य' है । श्रीमद्भागवत् मे हिंसक और क्रूरकर्मा कंस के लिए 'असभ्य' शब्द का प्रयोग हुआ है—

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे,
श्रुत्वाग्रजास्ते न्यवधीत् सुरेश्वर।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं,
श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥ (श्रीमद्भा.१०.३.२२.)

वसुदेव श्रीकृष्ण से कहते हैं, 'हे देवेश, हमारे यहाँ आपका जन्म होगा, इस तथ्य को सुनकर इस असभ्य (कंस) ने आपके बड़े भाइयो को मार डाला । अब अपने दूतो से आपके अवतार का समाचार सुनते ही यह शस्त्र उठाये दौडा आयेगा' । इस प्रकार उपर्युक्त सभी प्रमाणो और उदाहरणो से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय परम्परा मे परिष्कृत आचार-व्यवहार के लिए 'संस्कृति' शब्द नही 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग मिलता है । हमारी सम्मति मे अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' के पर्यायरूप में आधुनिक काल मे स्वीकृत 'सस्कृति' शब्द और 'सभ्यता' शब्द के अभिप्राय मे कोई अन्तर नही है । किन्तु अब आधुनिक विचारको ने 'सभ्यता' और 'संस्कृति' मे स्पष्ट विभाजक रेखा खीचने का प्रयत्न किया है । उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे काफी वजनदार हैं ।

विचारकों ने अनुभव किया है कि संस्कृति प्रमुखतः वह आन्तरिक प्रक्रिया है जिससे हमारा जीवन अधिक परिष्कृत होता है, जैसे अहिंसा, सत्य, दया, परोपकार आदि हमारी मनुष्य-सस्कृति के तत्त्व हैं और सभ्यता वे बाह्य साधन हैं जिनसे हमारा जीवन अधिक सुख-सुविधापूर्ण बनता है, जैसे नाना प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार, यन्त्र आदि मनुष्य की सभ्यता के विकास के प्रमाण हैं । इन विविध आविष्कारों से हमारा जीवन सम्पन्न और सुख-सुविधापूर्ण हुआ है, किन्तु वह सुसस्कृत भी हुआ है ऐसा इन आविष्कारों के आधार पर नही कहा जा सकता । जीवन सुसंस्कृत तभी माना जायेगा जब उसमे उदात्त मानवीय-गुणों का विकास होगा ।

दूसरा विचारणीय प्रश्न है कि कला क्या है, उसका जन्म कब होता है, और संस्कृति से उसका क्या सम्बन्ध है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं मनुष्य के आन्तरिक-परिष्कार की अनवरत प्रक्रिया ही संस्कृति है। यह परिष्कार ही उसमें सुन्दरता की चेतना को जन्म देता है और जैसे ही मनुष्य के मन मे सुन्दरता की चेतना या बोध, सुन्दर के प्रति आकर्षण, लगाव और सुन्दर का निर्माण करने और उसका उपभोग करने की इच्छा उत्पन्न होती है, वही कला का बीजारोपण हो जाता है। इस प्रकार केन्द्र मे सुन्दरता का भाव लिये जो भी स्थूल या सूक्ष्म क्रियाकलाप होते है, वे कला के रूप मे प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार कला संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। कला का जन्म संस्कृति मे होता है और संस्कृति की विकास-परम्परा को आगे बढ़ाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि 'सस्कृति' का 'कला' से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। कला, 'सस्कृति' की ही देन है। एक सुसंस्कृत समाज एव राष्ट्र अपनी लम्बी जीवन-यात्रा में बहुत कुछ निर्माण करता है। वह साँची के स्तूप बनाता है, ताजमहल बनाता है, खुजराहो की मूर्तियाँ बनाता है, अजंता के चित्र बनाता है, सरस्वती के रूप में संगीत की धारा बहाता है और कालिदास, तुलसी, शेक्सपियर और गालिब के रूप मे काव्य-सृष्टि करता है। जहाँ उसके ये सब कार्य 'संस्कृति के भिन्न-भिन्न सोपान है, वहीं उसके कलात्मक प्रयत्न भी हैं। आजकल हम सांस्कृतिक कार्यक्रमों (Cultural Programmes) की भी बहुत चर्चा सुनते है और उनमे भाग भी लेते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमो से आजकल हम संगीत और काव्य के माध्यमो से होने वाले कार्यक्रमों का ही अर्थ लेते हैं। गायन, वादन, नृत्य, नाटक, प्रहसन, कवि-सम्मेलन, मुशायरा और व्यंग्यविनोद आदि के कार्यक्रमो को ही सांस्कृतिक-कार्यक्रम कहने का प्रचलन हो गया है। इस दृष्टि से संगीत-कला संस्कृति का एक अंग है। काव्य-कला, संस्कृति का एक अंग है। प्रयोग द्वारा यह भी अनुभव हुआ है कि अकेले रूप मे प्रयुक्त कला (Art) शब्द 'चित्र कला' के लिए मानों रूढ़ हो चला है, जबकि कला (Art) के अन्तर्गत सभी सौन्दर्य प्रधान प्रयत्न, अर्थात् सभी ललित कलाओं—स्थापत्य (भवन निर्माण) (Architecture), मूर्तिकला-(Sculpture) चित्रकला (Painting) संगीत (Music) काव्य (Poetry) की गणना की जानी चाहिए। कला का प्राण है सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा आनन्द प्रदान करने की शक्ति। सौन्दर्य वह अनिवार्य तत्त्व है जिसके अभाव में हम कला के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। जहाँ सौन्दर्य नही वहाँ आनन्द की अनुभूति भी

सम्भव नही। इस प्रकार संस्कृति क्रमशः हमको सौन्दर्य की परख द्वारा आनन्द प्रदान करने वाली कलाकृतियो का निर्माण करने की प्रेरणा देती है। विश्व के समस्त राष्ट्रो मे जहाँ-जहाँ मनुष्य ने अपने आन्तरिक जीवन मे सजग परिष्कार किया है वहाँ-वहाँ सहज रूप से कला का जन्म भी हुआ है। भारत, मिस्र, यूनान, चीन आदि प्राचीन देशों का लम्बा सास्कृतिक इतिहास इसका साक्षी है। जहाँ इन देशों की सभ्यता पर परवर्ती वैज्ञानिक खोजों का प्रभाव हुआ है और इन देशों के भौतिक जीवन मे सुख-सुविधाओं का संचार हुआ है वह अपेक्षाकृत इन देशो के सास्कृतिक विकास के बाद की घटना है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति और सभ्यता का अन्तर इतना सूक्ष्म और झीना है कि कभी-कभी प्रायः भ्रम भी हो जाता है और सभ्यता और संस्कृति को एक भी समझ लिया जाता है। आधुनिक विचार मे 'सभ्यता', 'संस्कृति' की अपेक्षा स्थूलतर तत्त्व है। कला का सीधा सम्बन्ध 'संस्कृति' से है जो मनुष्य की आन्तरिक विकास-यात्रा है। संस्कृति पहले मनुष्य की अतर्मलिनताओं और दोषों को दूर करती है और बाद मे उसके व्यक्तित्व में कुछ अतिरिक्त विशेषताओं को जोड़ती है। इसी को संस्कृति के दो कार्यों—१. मलापनयन एवं २. 'अतिशयाधान' के नाम से पुकारा जाता है। मूल रूप से कला के सर्जन मे भी यही दो क्रियाएँ कार्य करती हैं। 'मलापनयन' और 'अतिशयाधान' को क्रमशः एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जब हम किसी दीवार की झाड-पोंछ करते हैं तो वह उसका 'मल अपनयन' (मैल दूर करना) हुआ। किन्तु जब हम उस पर प्लास्टर और पुताई करके कोई चित्र बना देते है तो यह दीवार को अतिरिक्त सौन्दर्य प्रदान करके उसमे 'अतिशयाधान' करना हुआ। इसी प्रकार मनुष्य पहले काम-क्रोध-लोभ आदि मलों को दूर करता है। तदनन्तर त्याग, परोपकार, दया आदि सदाचारो को आत्मसात् कर सुसंस्कृत बनता है। यही प्रक्रिया संस्कृति है।

समाज, संस्कृति और कला के क्षेत्र मे जब विकास के चरण आगे बढ़ाता है तभी हम उसे वास्तविक अर्थों मे विकासशील-समाज मान सकते है। सभ्यता के क्षेत्र मे, आधुनिक सुख सुविधाओ से सम्पन्न होना, वैज्ञानिक आविष्कारों से भौतिक उन्नति कर लेना मात्र ही पूर्ण विकास का प्रमाण नहीं है। सभ्यता, संस्कृति एवं कला, जब तीनों की धाराएँ त्रिवेणी के रूप मे प्रवाहित होती है, तभी मानव-समाज पूर्ण विकास की दिशा में अग्रसर होता

है। कला की साधना एक ऐसी आन्तरिक आवश्यकता है जिसका महत्त्व बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति से किसी भी प्रकार कम नहीं है, पाश्चात्य कला चिंतक हीगेल और विलियम ब्लेक जैसे मनीषी भी इस तथ्य के प्रति जागरूक थे। प्राचीन भारतीय कवि दार्शनिक भर्तृहरि ने भी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए कला में उसकी अभिरुचि और प्रयत्न को आवश्यक माना है।—

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः,
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः'।

आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Science and Technology) मानो सभ्यता का पर्याय हो गये हैं। वे एक ओर अहोरात्र मनुष्य की देह के लिए विलास-सामग्री और सुख-साधन जुटाने में लगे हैं तो दूसरी ओर समूची मानव जाति के विनाश में सक्षम नक्षत्र-युद्ध के लिए आयुध-निर्माण की होड़ में दौड़े जा रहे हैं। विज्ञान के लक्ष्य और उपयोग की ये विपरीत दिशाएँ अत्यन्त भयंकर चिन्ता का विषय है। इसमें सन्देह नहीं कि आज मनुष्य का भौतिक जीवन विज्ञान द्वारा समृद्ध से समृद्धतर हो रहा है, किन्तु मानवता के प्रहरियों को इस ओर भी निरन्तर सजग रहना होगा कि मनुष्य का आन्तरिक जीवन भी परिष्कृत और समृद्ध हो रहा है या नहीं। साहित्य और संगीत आदि समस्त ललित कलाएँ मनुष्य की इसी आन्तरिक समृद्धि या संस्कृति (संस्कार या परिष्कार) का 'आनन्दनिस्यन्दि' साधन है, जिनकी प्रौढ़ता ही साध्यावस्था में परिणत हो जाती है। फिर वहाँ जीवन का संहार नहीं, उसका सार्थक उपसंहार होता है।